प्रकाशक :
लहर प्रकाशन
७ सरदार पटेल मार्ग
इलाहाबाद,

मूल्य : एक रुपया
प्रथम संस्करण : फरवरी, १९५८
प्रतियाँ : ११००
मुखपृष्ठ : गोपेश्वर

मुद्रक :
प्यारेलाल भार्गव,
राजा प्रिंटिंग प्रेस,
कमच्छा, वाराणसी, १

क्रम

मूल प्रश्न	....	....	१
कृषि और सरकार	....	....	६
स्थायी उपयोगिता	....	....	१५
मनुष्य का महत्त्व	....	....	२४
कृषि और गाय	....	....	३१
सामाजिक पहलू	....	....	३७
खाद्य और शिक्षण	....	....	४४
शिशु और पोषण	....	....	५६
भोजन और जनसंख्या	....	....	६५
अन्न या भोजन	....	....	७६
कृषि और ग्रामोद्योग	....	....	८४
कृषि और समाज सन्तुलन	....		६०

आज हिन्दुस्तान को स्वराज्य मिला तो क्या हुआ? आज तक दूसरों के हाथ में खेत था, वह अपने हाथ में आ गया। लेकिन खेत में जो काम करना है, उसे नहीं किया तो, बारिश के बाद घास ही उगेगा।

—विनोबा

प्रस्तावना

आज भारत में कोई समस्या है तो वह भोजन की समस्या है। इस समस्या से भारत के प्रधान मंत्री से लेकर सड़क का भिखारी तक परेशान है। आज की परिस्थिति में भोजन सम्बन्धी चर्चा जितनी भी गहराई से हो सके उतना ही अच्छा है। अतः भाई रामकृष्ण का भोजन सम्बन्धी विवेचन आज की हालत में बहुत महत्व रखता है।

प्रायः लोग जब इस सम्बन्ध में विचार करते हैं तो पदार्थिक गुण-दोष पर ही अधिक सोचते हैं। लेकिन भोजन की समस्या केवल उसके गुण-दोष से ही मर्यादित नहीं होती। मनुष्य की जिन्दगी की मौलिक आवश्यकता होने के कारण भोजन की समस्या पर मानव समाज की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति भी निर्भर करती है। अतः इसपर व्यापक रूप से विचार होना जरूरी है।

भाई रामकृष्ण ने क्या खाया जाये, कैसे खाया जाये, और मनुष्य शरीर पर उसका क्या असर होता है, केवल इसी बात की चर्चा नहीं की है, बल्कि उसे कैसे, कितना और कहाँ पैदा किया जाये, समतोल पैदावार के अभाव से किस तरह समाज का संतुलन बिगड़ सकता है, समस्याओं का सही दृष्टि से समाधान किये बिना भारत किस तरह अन्तर्राष्ट्रीय, सामाजिक तथा राजनीतिक रङ्ग मंच पर दिशा भ्रष्ट होकर दलदल में फँस सकता है, इत्यादि बातों का उन्होंने ब्योरेवार विचार किया है।

प्रस्तुत पुस्तक केवल साधारण जनता के लिए उपयोगी है, ऐसी बात नहीं। यह अर्थशास्त्र तथा राजनीति शास्त्र के विद्यार्थियों के भी काम की चीज है। नयी तालीम के अध्यापकों के लिए इस प्रकार की पुस्तक काफी मददगार साबित होगी। वस्तुतः 'नयी तालीम' का उद्देश्य बच्चों को कुछ विषयों का ज्ञान करा देना मात्र नहीं है। इसका उद्देश्य है बच्चों को जागरूक तथा आत्मनिर्भर नागरिक बनाने का। यही कारण है कि इस शिक्षा-पद्धति में सामाजिक समस्याओं को शिक्षा का माध्यम माना गया है ताकि शिक्षार्थी समस्याओं के अध्ययन तथा उसके समाधान के अनुभव से ज्ञान प्राप्त करके सही दृष्टि से समाज संचालन की योग्यता प्राप्त करे।

अन्न, वस्त्र—मानव समाज की मौलिक आवश्यकता होने के कारण इसकी प्राप्ति की चेष्टा ही मनुष्य की मौलिक प्रवृत्ति होती है। इसलिए 'नयी तालीम' में अन्न तथा वस्त्र उत्पादन को मूल उद्योग माना गया है। लेकिन जब इसी उद्योग के साथ विभिन्न विषयों के शास्त्रीय ज्ञान के समवाय की समस्या खड़ी होती है तो 'नयी तालीम' के शिक्षक प्रायः किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाते हैं। ऐसे समवाय से बच्चों को कौन कौन बातें बतलायी जायें उनकी समझ में नहीं आता। इस पुस्तक से उन्हें अपने काम के लिए बहुत काफी सामग्री मिल जायेगी।

मुझे उम्मीद है देश के राष्ट्रीय-जन, लोक-सेवक, अध्यापक तथा विद्यार्थी इस पुस्तक से काफी लाभ उठायेंगे।

—धीरेन्द्र मजूमदार

परिचयात्मक

यह सारी पुस्तक ही हमारी जीवन सम्भावनाओं की एक प्रश्नात्मक भूमिका है। इसके सम्बन्ध में कुछ भी अलग से लिखना बात की पुनरावृत्ति मात्र होगी। हाँ, कुछ मोटे मोटे सवाल हैं जिन्हें ध्यान में रखकर ही इस पुस्तक को पढ़ने की जरूरत है—

● हम जो कुछ खाते हैं क्या वह शुद्ध, पौष्टिक, और पर्याप्त है ?

● कम या ज्यादा, अच्छा या बुरा, हमें इस समय जो कुछ खाने को मिल रहा है, क्या यह निश्चित है कि वह बराबर मिलता जायेगा, उसमें और भी कमी और खराबी न पैदा होगी ?

● भुखमरी और अकाल की जो कहानियां सुनाई पड़ती रहती हैं उसका रहस्य क्या है ?

● संतुलित और स्वयं पूर्ण खेती का अर्थ क्या है और इसके बिना भारत की खाद्य समस्या क्योंकर हल नहीं हो सकती ?

● भोजन की समस्या और देश के समुत्थान का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है ?

● खेती और भोजन का आधार भूत सम्बन्ध क्या है ? उस सम्बन्ध से समाज का स्वरूप कैसे बनता बिगड़ता रहता है।

आशा है इस पुस्तक से आप लोगों को खेती और भोजन, इन दोनों के आर्थिक ही नहीं, सामाजिक और मानवीय मूल्यों को भी समझने में काफ़ी मदद मिलेगी। विद्यार्थी और अध्यापकों, मुख्यतः बुनियादी शिक्षकों, को इस पुस्तक को ध्यान से देखना चाहिये।

धीरेन भाई ने इस पुस्तक की प्रस्तावना लिख दी है— इसके सम्बन्ध में कुछ कहना वैसे ही अशोभनीय होगा जैसे छोटा अपने बड़े के प्रति आभार प्रदर्शित करे।

इस पुस्तक की रचना में मुझे जिन महानुभावों या रचनाओं से सहायता मिली है, उनका मैं ऋणी हूँ।

– राम कृष्ण शर्मा

खेती और भोजन

मूल प्रश्न : १ :

सम्पत्ति का स्रोत पृथ्वी है। प्रत्येक देश में, प्रत्येक युग में, हमारी जीवनावश्यकताओं की पूर्ति में पृथ्वी का प्रारम्भिक और प्राथमिक महत्व रहा है और रहेगा भी। परन्तु खेद है कि इस पृथ्वी को लेकर जीने और मरनेवाले कृषक सबसे अधिक त्रस्त और अभावग्रस्त रहे हैं, विशेषतः उन देशों के कृषक जो कच्चे माल के उत्पादक हैं। धूप और ठण्ड से सुरक्षित, पंखों की हवा और बिजली की चकाचौंध में नाखूनों की 'पालिश' और होठों की 'लाली' के सौदागर खुशहाल और जीवन की अनिश्चितता से दूर देखे जाते हैं जब कि दिन-रात वर्षा और तूफान में कठोर परिश्रम के साथ खून पसीना करनेवाला किसान रोग और भूख से तड़प-तड़प कर दम तोड़ रहा है। अन्न के बिना किसी भी देश का अस्तित्व असम्भव है, परन्तु विरोधाभास तो यह हैं कि वही अन्नदाता समाज में सब से अधिक उपेक्षित है। उसकी इज्जत सब से कम नहीं तो किसी से अधिक भी नहीं है। किसानों में भी अफीम की कास्त करने वाला व्यक्ति गेहूँ वाले से अधिक सम्पन्न और ठाठ-बाट में पाया जाता है।

मतलब यह कि हमारी दृष्टि ही भ्रष्ट हो गयी है और

जव तक हम कृषि को सही दृष्टि से हाथ में नहीं लेते सर्वोदय की वुनियाद पड़ ही नहीं सकती,—'नव भारत' कोरा सपना वना रहेगा।

कृषि—भोजन के पैमाने में—कृषि और खाद्य समस्या का प्रश्न एक दूसरे में इस प्रकार घुल-मिल गया है कि लोग भोजन के पैमाने में ही कृषि को समझने के आदी हो गये हैं। इसलिए जरूरी है कि हम भारत की खाद्य समस्याओं को समझकर ही भूमि और कृषि के प्रश्न पर विचार करें।

भोजन : मनुष्य का एक महा प्रश्न—आज भारत स्वतंत्र है परन्तु उसकी गरीवी, उसका रोग और दुख दूर नहीं हुआ। अरवों रुपये विदेशों से महँगे दामों पर पेट भरने के लिए अनाज मँगाने में खर्च हो रहे हैं फिर भी समस्या हल होती दीखती नहीं। सारे राष्ट्र की कमर टूटी जा रही है। जव तक देश में ही आवश्यक अन्न उत्पन्न नहीं कर लिया जाता देश का अपार धन विदेशों की भेंट हुए विना न रहेगा और हमारे जीवन के लाले पड़े ही रहेंगे।

सारी उन्नति की एक वुनियादी शर्त—वस्तुत: यह जीवन का मूल प्रश्न है, सारी उन्नति और उत्थान की एक वुनियादी शर्त है। जिस देश को, जिस राष्ट्र को, पेट भर भोजन की ही निश्चिन्तता न प्राप्त हो, वहाँ आजादी का मतलव भी क्या हो सकता है ? इसके अलावा किसी तरह पेट भर लेना ही तो हमारा अभीष्ट नहीं हो सकता। भोजन हो, पेट भर हो, और फिर वह स्वस्थकर हो, शांतिपूर्वक, स्थायी और

स्वावलम्बी रूप से उसके मिलते रहने की व्यवस्था हो—तभी देश सुखी और समृद्ध हो सकेगा, उसका विकास निश्चित गति को प्राप्त हो सकेगा। जहाँ भोजन की समुचित व्यवस्था नहीं, वहाँ हृष्ट-पुष्ट और मेधावी लोगों का अभाव ही रहेगा और ऐसा स्वत्वहीन राष्ट्र सभ्यता की परम्परा को भी सुरक्षित नहीं रख सकता, सभ्यता की दौड़ में वह टिक नहीं सकता, बहुत दूर जा नहीं सकता, राष्ट्रों की श्रेणी में खड़ा नहीं हो सकता,—वह निरीह और दुर्बल प्राणियों का एक झुण्डमात्र होगा, जिसे जो जहाँ चाहे दवा देने की कोशिश करेगा।

सरकारी शुभेच्छाओं से बिलकुल स्वतंत्र, उत्पादन की एक ऐसी स्थायी और स्वावलम्बी व्यवस्था करनी होगी जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए स्वयं समर्थ हो, उसे सरकारी सूत्रों से सड़े-गले, आधे पेट, अनुपयुक्त दानों की खोज न करनी पड़े।

समाधान का सच्चा आधार—वजन के बजाय संतुलन के आधार पर, और आयात के आँकड़ों के बजाय वृद्धिमान जन-संख्या के आधार पर जब तक किसी देश की खाद्य योजना नहीं बनती, समस्या का सच्चा हल प्रस्तुत करना सर्वथा असम्भव ही होगा।

युद्ध में भोजन का निर्णायक महत्व—सुख और सम्पन्नता की दृष्टि से ही नहीं, युद्ध और संघर्ष के लिए भी भोजन का प्रश्न एक निर्णायक महत्व रखता है। जो लोग भूखों मर रहे हों वे लड़ नहीं सकते। अकाल पीड़ित देश कभी मजबूत

सेनाएँ खड़ी नहीं कर सकता। जहाँ लोगों को पूर्ण और समुचित रूप से स्वस्थकर भोजन प्राप्त नहीं होता वे न तो संघर्षशील योद्धा वन सकते हैं और न विजय श्री का सुख भोग सकते हैं। आज तो सफलतापूर्वक युद्ध करने के लिए राष्ट्र की भोजन व्यवस्था को सब से पहले सुनिश्चित बनाना पड़ता है। आज यदि इङ्गलैण्ड, अमेरिका और आस्ट्रेलिया हिन्दुस्तान को अन्न देना बन्द कर दें और यदि पाकिस्तान, चीन और बर्मा के रास्ते बन्द हो जायें तो हिन्दुस्तान की क्या दशा होगी ?

इतना ही नहीं, आज की रणनीति (स्ट्रेटजी) और युद्ध रेखाएँ भोजन के आधार पर वनती और चलती हैं। गत दो महायुद्धों के अध्ययन से भोजन के दिलचस्प और महत्त्वपूर्ण चित्र सामने आयेंगे। १९१४-१९ ई० के युद्ध में भोजन के ही प्रश्न पर जर्मनी की हार हुई। १९३९-४५ ई० के युद्ध में हिटलर ने पहले आस्ट्रिया और जेकोस्लावाकिया को क्यों लिया, उसने पहले पश्चिम में आक्रमण न करके पोलैण्ड को निशाना क्यों बनाया, युद्ध को जल्द से जल्द जीत लेने के लिए भयंकर "गोतामार-वम्वाजों" (डाइव वाम्वर्स) के आविष्कार की उत्कट आवश्यकता का जर्मनी में क्योंकर अनुभव किया गया, असंख्य युद्ध वन्दियों का आनन-फानन निर्दयतापूर्वक अन्त कर देने की पाशविक लीलाएँ क्योंकर अमल में लायी गयीं—इन के पीछे खाद्य-समस्याओं की स्पष्ट रेखा दृष्टिगत होती है।

सर्वाङ्गीण दृष्टि की आवश्यकता—सच तो यह है कि यदि भारत को जीवित और स्वतंत्र रहना है, यदि इसे स्वतंत्रता-पूर्वक संसार में आगे वढ़ाना है तो सब से पहले भोजन के प्रश्न को हल करना होगा। यह जनता और सरकार—दोनों की पहली जिम्मेदारी है। जब तक हम व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और फिर सारे संसार को नजर में रखते हुए भोजन के प्रश्न को सर्वाङ्गीण दृष्टि से हल करने की चेष्टा नहीं करेंगे, नतीजा केवल शून्य रहेगा। मूल प्रश्न तो यही है कि हमारी दृष्टि शुद्ध और सर्वांगीण हो। दृष्टि साफ होगी तो प्रश्न का समाधान भी सहज और सुलभ हो जायेगा।

● ● ●

कृषि और सरकार : २ :

खाद्य समस्या में सरकार का निर्णायक स्थान—आज संसार की जो समाज व्यवस्था चल रही है, उसमें सरकारों को निर्णायिक स्थान प्राप्त है। इसलिए, जब तक उसे बदल कर विकेन्द्रित आधार पर न खड़ा कर दिया जाये, हमारी खाद्य-समस्याओं का बहुतांश सरकारी नीति और नियम, सरकार की योजनाओं और कार्य्यवाहियों पर बहुत कुछ निर्भर करेगा। निम्नलिखित पंक्तियों से बात सरलतापूर्वक समझ में आ जायेगी।

सिंचाई और ट्रैक्टर—अन्न के उत्पादन में सिंचाई का बहुत बड़ा स्थान है। हमारी केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारें करोड़ों, अरबों रुपये की लम्बी-लम्बी योजनाओं में फँसी हुई हैं। कल्पना यह है कि एक दिन सारे देश में इनके द्वारा फल, फूल, अनाज के हरे-भरे लहलहाते हुए बाग और दूध, घी, मक्खन तथा शहद की नदियाँ बहने लगेंगी। इन भले आदमियों की समझ में नहीं आता कि भविष्य के सपनों से वर्तमान की उत्पीड़ाओं को दूर करना अधिक आवश्यक है। इन योजनाओं की आवश्यकता नहीं है, ऐसी बात नहीं। परन्तु इसके भी पहले गाँवों को सिंचाई के स्थायी कुओं से भर देना चाहिये ताकि लोग भविष्य की आशा में भूख और रोग के शिकार न हों। इस काम में सरकारों को जनता की

मदद मिलेगी—उसे वहिष्कृत समुदाय के समान जनता से अलग, केवल अपनी अपर्याप्त केन्द्रीय निधि का मुँह नहीं देखना होगा। दामोदर वाँध को तो सरकार धीरे-धीरे चलाती ही रहे, परन्तु आवश्यक है कि छोटे-मोटे नदी-नालों को वह जनता की मदद से ही वाँध कर काम को चालू कर के जनता को सपनों की अनिश्चितता से मुक्त रखे। कुओं और नालों के सम्बन्ध में स्थानीय साधनों का ही प्रमुख आधार होना चाहिये, विदेशी मशीनों का नहीं, वरना गाड़ी यहाँ भी दलदल में ही फँसी रहेगी। ट्रैक्टरों का प्रयोग भी इसी सिद्धान्त पर करना है।

दामोदर वाँध से न तो भारत भर के प्रत्येक गाँव सींचे जायेंगे और न ट्रैक्टरों से हर घर की खेती होगी। हमें तो वर्तमान साधनों को ही सुधार कर काम लेना है।

सरकार के दृष्टि-दोष का कुफल—सवसे वड़ी वात तो यह है कि राष्ट्र के इस गुरुतर प्रश्न पर सरकार की दृष्टि साफ होनी चाहिये। सरकार की नजर साफ न होने के कारण ही आज भारत आज़ाद होकर भी विनाश के गढ़े में फँसता जा रहा है। आज देश में मिल की चीनी पर वड़ा जोर दिया जा रहा है क्योंकि शीशे के मर्तवानों में सफेद दानों का इस्तेमाल सरल और सुन्दर लगता है। सरकार की वहुत वड़ी शक्ति और वहुत वड़ी मदद इन मिलों के पिछे है और नतीजा यह है कि किसानों का एक वहुत वड़ा अंश मिलों के घृणित गुलाम के रूप में अवशेप रह गया है। लाखों-करोड़ों एकड़

भूमि गन्ने की खेती में फँसा दी गई है और देश को अमेरिका, और आस्ट्रेलिया के गेहूँ के लिए अनाथों के समान मुंह देखना पड़ रहा है।

वनस्पति घी—इससे भी चिंतनीय दशा वनस्पति घी की है। वनस्पति घी मूंगफली का रासायनिक प्रक्रियाओं द्वारा जमाया हुआ ऐसा तेल है जिससे प्राणी की पाचन और जनन शक्ति नष्ट हो जाती है। सैंकड़ों रोगों की सृष्टि होती है। मनुष्य नामर्द हो जाता है। और इसी जहरीले तेल के लिए सन् ४८ ई० में २१ लाख एकड़ भूमि में मूंगफली की पैदावार हो रही थी। (इस मात्रा में कमी नहीं, वृद्धि ही हुई है)। इतनी जमीन से १०॥ लाख परिवारों का आसानी से भरण-पोषण हो सकता है जो (वनस्पति की मिलों को क़ायम रखने के लिए) अन्न के लिए दूसरों के मुँहताज बना दिये जाते हैं। कहा जायगा कि जनता स्वयं मूंगफली पैदा करती है, परन्तु सरकारी और पूंजीवादी प्रलोभनों को हटा कर जनता को सच्चे रास्ते पर चलने की सुविधाएँ मिलने के बाद ही शायद यह सवाल हो सकता है। उसके पहले नहीं। सरकार भी तो वही सच्ची और लोकप्रिय सरकार बन सकती है जो मिल मालिकों की पूंजी की अपेक्षा गरीब जनता की स्वार्थरक्षा में अधिक सचेष्ट रहे।

आज देश में ७३००००० एकड़ से भी अधिक भूमि में गन्ना, चाय, नील, जूट आदि व्यावसायिक चीजों की उपज की ज़ा रही है। जब तक इसमें कमी करके इसे अन्नोपयोगी नहीं

बनाया जाता भारत की खाद्य समस्या कोरे अमेरिकी ट्रैक्टरों और रासायनिक खादों के भरोसे हल होने के बजाय बिगड़ती जायगी।

वनस्पति घी की मिलों के कारण देश की, स्वास्थ्य के अतिरिक्त, आर्थिक दृष्टि से भी भयंकर क्षति हो रही है। आर्थिक क्षति का मतलब ही यह है कि हम दीन और दुर्बल हो रहे हैं। यानी हम ऊँचे दर्जे के पौष्टिक भोजन प्राप्त करने के सामर्थ्य से वञ्चित कर दिये जाते हैं। वनस्पति की मिलों के आँकड़ों पर विचार कीजिये—इस समय २२½ करोड़ की पूँजी इसमें लगी हुई है। १५००० मजदूर काम करते हैं। इन मिलों से जो दूषित चीज तैयार होती है, यदि उसे चिकना मान भी लिया जाये तो भी देश की जरूरत पूरी नहीं होती। २२½ करोड़ में कम से कम ९ लाख घानियाँ चालू की जा सकती हैं। और कम से कम ९००००० आदमी और ९००००० बैलों को पूरी जीविका मिल सकती है, जब कि मिलों से कुल १५००० आदमियों को काम मिलता है। सारे देश को पूरा शुद्ध तेल जितना चाहिये उससे बहुत अधिक इन घानियों के द्वारा पैदा होगा। तेल का वह आधिक्य तथा घानियों से मिली हुई खली जो वनस्पति की मिलों में बर्बाद हो गयी है, हमें धनाधिक्य के रूप में प्राप्त होगी।" इस प्रकार हम देख सकते हैं कि वनस्पति मिलों की वर्तमान नीति यानी खाद्य तेलों से वनस्पति तैयार करने की नीति से भयंकर खाद्य एवं आर्थिक हानि हो रही है। यदि ये मिलें खाद्य तेलों

के बजाय किसी अखाद्य तेलहन से वनस्पति तैयार करें तो न मिलों के तोड़ने का प्रश्न होगा, न सरकारी आय पर धक्का आयेगा। यह वनस्पति खाने के नहीं, रबड़ और साबुन की तैयारी में काम आयेगा।

इसी प्रसंग में यह भी समझ लेने की जरूरत है कि वनस्पति के उद्योग ने देश की सम्पन्नता को बहुत बड़ा धक्का दिया है। हरिजन में श्री झवेरचन्द माणकलाल ने मध्य प्रदेश का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वनस्पति की मिलों के पहले वहाँ प्रति वर्ष १० लाख गाँठ कपास और ५५ लाख बोरे बिनौले पैदा होते थे और साथ ही गेहूं, जुवार, तुअर आदि प्रांत की जरूरत से ज्यादा पैदा होता था और दूसरे प्रांतों में स्वतंत्रता पूर्वक भेजा जाता था। वनस्पति के कारखानों के बाद कपास कुल ३ लाख गाँठ और बिनौला कुल १५ लाख बोरे होता है। अन्न तो इतना कम हो गया है कि प्रांत के खाने भर को ही नहीं होता। भारत में वनस्पति के कारखाने खुलने के बाद से अन्न और कपास की जमीन की जगह मूंगफली ने ले लिया है।

आज देश की स्थिति यह है कि चारों ओर से भुखमरी और अकाल मृत्यु की भयावनी आवाजें उठने लगी हैं। बिहार, पूर्वीय उत्तर प्रदेश तथा सम्पूर्ण दक्षिण भारत की स्थिति खतरनाक होती जा रही है। क्या इसका निराकरण केवल सरकारी घोषणाओं से ही हो जायेगा? हर्गिज नहीं। बड़े-बड़े भाषण, बड़े-बड़े आश्वासन, या संसद में कानून पास कर देने

से खाली देश में अन्न की वखारें नहीं खड़ी हो जायेंगी। इसके लिए तो जनता और सरकार, दोनों को अपनी कृषि और औद्योगिक उत्पादन की नीति साफ और ठीक करनी होगी वरना वड़े-वड़े नेताओं, वड़ी-वड़ी योजनाओं, के वावजूद भी अकालों से देश को मुक्ति नहीं मिल सकती।

चावल की मिलें—अमेरिका और युरोप की चमक-दमक को देखकर हमारे नेता और शासकों के दिमाग में खब्त सवार हो गया है कि हिन्दुस्तान में भी सारा काम कल-कारखानों से हो। यहाँ तक कि धान की भूसी भी मिलों में छुड़ायी जाने लगी है। परिणामतः गाँव-गाँव में चावल की मिलें खड़ी होती जा रही हैं और इसे औद्योगिक प्रगति वताकर सरकारें मदद भी कर रही हैं। परन्तु असलियत यह है कि मिलों के चावल का सारा भोजन तत्त्व नष्ट हो जाता है। इसका सीधा सा मतलव यह है कि जिस अंश में यह तत्त्व नष्ट होता है ठीक उतनी ही कमी देश के अन्न के परिमाण में हो जाती है। कहा जाता है कि देश में जितने अन्न की जरूरत है उससे १० प्रतिशत कम भारत में होता है। इसलिए यदि चावल की मिलें वन्द कर दी जायें तो भारत के भोजन की वहुत वड़ी समस्या अपने आप हल हो जायेगी।

मिल के चावल से देश में 'वेरी-वेरी' का संक्रामक रोग कितने जोरों से फैल रहा है—यह दूसरी वात है और इस पहलू पर हम फिर विचार करेंगे। कहने का मतलव यह है कि हमारे भोजन की समस्याएँ हमारी अपनी ही सृष्टि हैं और

सरकारी दृष्टिकोण में परिवर्तन होने से ये सरलतापूर्वक हल हो सकती हैं।

ऐसे ही अन्य दिशाओं में भी काम हो रहा है। जब तक इस कार्य पद्धति में परिवर्तन न होगा, बात सरकार के लिए शुद्ध धोखादेही और जनता के लिए आत्महत्या से किसी अंश में कम नहीं समझी जा सकती।

समर्थ ग्राम पञ्चायतों की आवश्यकता—कार्य पद्धति में परिवर्तन हो नहीं सकता जब तक जनता को स्वयं इस दिशा में कदम उठाने का मौका न दिया जायेगा। जब तक दिल्ली की भव्य अट्टालिकाओं से जनता को उठने-बैठने का कानून मिलता रहेगा जनता कुछ कर न सकेगी। वस्तुतः आवश्यकता इस बात की है कि सबल और समर्थ ग्राम पञ्चायतों का निर्माण किया जाये। इन पञ्चायतों को अधिकार होना चाहिये कि वे स्थानीय साधनों के अधार और क्षेत्रस्थ परिस्थितियों के सामञ्जस्य में उत्पादन कार्य के लिए पूर्णतः समर्थ हों। यह नहीं कि पञ्चायतें तो खड़ी कर दी जायें पर उनसे कहा जाये कि यह दिल्ली का अधिकार क्षेत्र है, यह लखनऊ का अधिकार क्षेत्र है, और जनता सरकारी अनुमति पत्रों पर सरकारी गोदामों से मिट्टी का तेल बेचे। आज की पञ्चायतें तो केन्द्रों की वितरण एजेन्सियाँ मात्र हैं। इन्हें बहस-मुबाहसों का केन्द्र और सरपंचों का कुश्ती घर बना दिया गया है। इस हालत में क्या हम आशा कर सकते हैं कि ये पञ्चायतें देश की जटिल समस्याओं को हल कर सकेंगी? हरगिज़ नहीं।

कन्ट्रोल—कन्ट्रोल को चलाने के लिए सरकार को लोगों के फाजिल अंन्न की आवश्यकता हो तो वह भी पञ्चायतों के माध्यम से ही वसूल होना चाहिये। नियम यह हो कि लोग अपना सारा फाज़िल अन्न पञ्चायती गोदामों में जमा कर दें। वहाँ से गाँवों के लिए पञ्चायतों के पास २५% छोड़ कर शेप सरकार के काम आना चाहिये। इसके लिए पञ्चायतों के आधीन सरकारों को वैज्ञानिक ढंग की गोदामें वनवा देनी चाहिये। चाहें तो सरकारी भाग पर सरकारी ताले लगा दिये जायें। परन्तु यह नहीं कि गाँव-गाँव से, व्यक्ति-व्यक्ति से, भयंकर खर्चीली व्यवस्था के द्वारा अन्न को केन्द्रों में वटोरा जाये, कुछ रेल और कुछ सरकारी गोदामों में वरवाद किया जाये, और फिर वचे-वचाये, सड़े-गले अन्न को सरकारी कार्डों के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के पास उलटे पहुँचाया जाये।

गाँवों से प्राप्त गल्ले को सरकारी या सहकारी दूकानों की मार्फत खुली विक्री के द्वारा वहीं से सीवे पास-पड़ोस वाले शहरों के काम में लिया जा सकता है। ग्राम पञ्चायतों का फ़ाजिल अन्न तो सरकार को मिलेगा ही, उसका समुचित भुगतान हो और गल्ले की व्यक्तिगत तिजारत वन्द कर दी जाये तो गाँव या शहर, कहीं अन्न की दिक्कत न रहेगी, किसी भी स्थिति में नियंत्रण (कन्ट्रोल) की ज़रूरत न होगी, मुनाफा ख़ोरी, चोर वज़ारी, भ्रष्टा चार—सव का अंत हो जायेगा। वस्तुतः अन्न और वस्त्र ही समाज का मूल उद्योग (Key Industries) है, इस्पात (Iron and Steel) नहीं। मूल

उद्योगों को सीधे जनता के हाथ में होना चाहिये। जनता का अर्थ कोई केन्द्रीय तंत्र नहीं होता। राष्ट्रीय अनुबन्धन (National Co-Ordination) के लिए राष्ट्रीय सलाहकार मण्डलों से काम चल सकता है। जो भी हो, स्थानीय या क्षेत्रीय स्वतंत्रता में कम से कम केन्द्रीय हस्तक्षेप होना चाहिये।

● ● ●

स्थायी उपयोगिता : ३ :

उपयोगिता और रुपये की दृष्टि—जीवन की आवश्यक वस्तुओं में सबसे पहले उपयोगिता (युटीलिटी वैल्यू) की दृष्टि होनी चाहिये, न कि रुपये की (मनी वैल्यू)। एक भूखे आदमी के हाथ से रोटियाँ छीन कर सोने की सिल पकड़ा देना हितकर नहीं, अहितकर है—भारी अनर्थ (वैड एकानामी) है। इसलिए पहले हमें यह देखना चाहिये कि किसान जो अन्न पैदा करता है उसका उसे पूरा लाभ मिले—इस अन्नदाता को, इसके परिवार और बाल बच्चों को, पहले पेट भर, स्वस्थकर और समुचित ढंग से भोजन की सुनिश्चित और स्थायी व्यवस्था होनी चाहिये।

अन्न का ऊँचा दाम—आज हमारी सरकारें और सरकारी कर्मचारी कहते हैं कि किसानों को उनके अन्न की ऊँची से ऊँची क़ीमतें दी जा रही हैं। यह सरासर धोखादेही है। पेट का अन्न लेकर करेन्सी नोट पकड़ा देने से क्षुधा निवारण नहीं हो सकता। करेन्सी नोट लेकर अन्न देनेवाले इन्हीं किसानों को फिर दाने-दाने के लिए परेशान होना पड़ता है या फिर स्वस्थकर और पुष्टकर भोजन वेंच कर सिनेमा और फैशन के बाज़ार में उतरना पड़ता है। इसलिए सरकारों का परम कर्तव्य है कि इन भोले-भाले किसानों में करेन्सी नोटों का चस्का पैदा करके

उनकी जीवन दृष्टि को नष्ट न करें। कहा जाता है कि अनाज का दाम चढ़ जाने से आज का किसान खुशहाल हो गया है। बेशक, वह खुशहाल इस मानी में जरूर है कि अब वह दूध, दही, घी और गेहूँ के बजाय सरकारी सिक्कों के बल पर हमाम सोप, होठों का रंग, शहरों में सिनेमा, मिल का मलमल, पेरिस के लेवेण्डर—न जाने क्या-क्या इस्तेमाल कर सकता है।

गल्ला वसूली, व्यक्तिगत नहीं, पञ्चायतों द्वारा हो—इस परिस्थिति में परिवर्तन किये बग़ैर भोजन की समस्या हल नहीं हो सकती। इस काम के लिए सरकार को सबसे पहले व्यक्तिगत आधार पर अन्न की खरीद और गल्ला वसूली की नीति को तुरत रोक देना चाहिये। जैसे भी उचित और सम्भव हो किसानों का सारा फ़ाज़िल अन्न ग्राम पञ्चायतों में जमा करवा देना चाहिये। सरकार अपने लिए वहीं से अन्न प्राप्त करे और किसानों को उनके अन्न के बदले करेन्सी नोट नहीं, पञ्चायतों के माध्यम से जीवन की आवश्यकताएँ प्राप्त होनी चाहियें। इन पञ्चायतों को सहकारिता, सरकारी महाजनी तथा कानूनी कार्य्यवाहियों की पूर्ण क्षमता और पूर्ण सामर्थ्य होना चाहिये। केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों को प्रत्येक प्रशासकीय और वैधानिक उद्देश्यों के लिए इन पञ्चायतों को ही प्रारम्भिक एवं आधारभूत इकाई बनाना चाहिये। आज गाँव और नगर की जनता हतबुद्धि-सी खड़ी है—सड़क पर मोटर चलाने का कर केन्द्रीय कानूनों के अन्तर्गत चलता है। गाँवो में चक्की चलाने का कार्य और

कर ज़िला बोर्ड के क़ानूनों से चलता है। शालाएँ प्रान्तीय सरकार और सरकारी संस्थाओं की अलग-अलग व्यवस्था और क़ानून के अन्तर्गत हैं। ऐसी दशा में बेचारा सीधा-सादा नागरिक समझ भी नहीं पाता कि उसे क्या और कैसे करना है, किसके हुक्म से करना है। भोजन की समस्या को एक सफल योजना के अन्तर्गत सुसंगठित रूप से चलाने के लिए इस गोरखधन्धे को तुरत बन्द करके सबल पञ्चायतों का आधार ग्रहण करना परम आवश्यक प्रतीत हो रहा है।

धरती की उपज शक्ति, 'कम्पोस्ट' खाद—भोजन की समस्या भूमि पर ही निर्भर करती है, इसलिए धरती को उपजाऊ बनाना पहली आवश्यकता है। भारत में खेती हजारों वर्ष से होती आयी है, इसलिए पुरानी जमीनों की उपज शक्ति क्षीण हो चली है। इसे फौरन सँभालना हैं। आज तो इसके लिए रासायनिक खादों का प्रचार किया जा रहा है। परन्तु यह अत्यन्त घातक बात है। रासायनिक खादों से धरती एक-दो वर्ष तक बहुत उपज देती है परन्तु इसी बीच उसके पेट की सारी उत्पादक शक्ति बाहर निकल आती है और फिर वह बन्जर से भी बदतर हो जाती है। अमेरिका जैसे विशाल देशों में जहाँ बड़े-बड़े चकों के आधार पर खेती होती है, वहाँ कुछ हिस्से में खेती और कुछ को परती छोड़कर अदल-बदल की नीति के द्वारा दोष को बहुत कुछ मिटाने की चेष्टा भी होती है, परन्तु भारत में तो लोगों के पास इतने छोटे-छोटे टुकड़े हैं कि पूरी जमीन पर पूरी पैदावार करके भी पूरा नहीं

पड़ रहा है, फिर परती छोड़ने पर क्या होगा ? अमेरिका में एक बात और है—जमीन के खराब हिस्सों को छोड़ कर नयी ज़मीनें तोड़ ली जाती हैं, परन्तु अब तो भारत में मिलों की बढ़ती के साथ जमीन को परती छोड़ते जाने की यह सुविधा भी खतम होती जा रही है। इसलिए यहाँ रासायनिक खादों का उपयोग तो सोने का अण्डा देनेवाली मुर्गी का पेट चीर देने के समान होगा। यहाँ तो 'कम्पोस्ट' खादों का उपयोग करने से ही समस्या हल हो सकती है।

रासायनिक खाद—रासायनिक खादों के बारे में डा० गांगुली लिखते हैं—"इसके द्वारा उत्पन्न किये गये अन्न में पोषक तत्वों का बिल्कुल अभाव रहता है" (हेल्थ और न्युट्रीशन, पृष्ठ २८३)। वहीं डा० केरल के मत का इस प्रकार उद्धरण किया गया है—"रासायनिक खादों के द्वारा फसल तो बढ़ गयी है, परन्तु जमीन का सत् समाप्त हो जाने से अन्न और सागों के पोषक तत्व भी बदल गये हैं।"

डाक्टर गांगुली की तरह अनेक कृषि विज्ञान विशारदों ने अनुसंधान और प्रयोग के आधार पर सिद्ध कर दिया है कि रासायनिक खाद अत्यन्त दूषित चीज़ है। इसका सीधा-सादा अर्थ यही होता है कि रासायनिक खादों के प्रयोग से भारत की खाद समस्या सुधरने के बजाय बिगड़ती जा रही है। भारत सरकार के एक भूतपूर्व कृषि विशारद अधिकारी ने तो रासायनिक खाद के प्रयोग को अत्यंत विनाशक और जुर्म बताया है (हिन्दू, १७.११.४६)।

'नल-कूप' – एक बात हम बड़ी चिंता से देख रहे हैं— वह है सिंचाई के लिए नल-कूपों (Tube-well) की बात। 'नल-कूपों' को झटपट जमीन में धँसा कर चटपट पानी निकाल लेने में बड़ी आसानी मालूम होती है। परन्तु इनके कारण इनके आस-पास पृथ्वी का पानी उतने ही नीचे चला जाता है जितने गहरे ये 'नलके' जमीन में घुसे होते हैं। नतीजा यह होता है कि पानी दूर हो जाने से पृथ्वी के ऊपर के पेड़-पौधे पानी के अभाव में सूखने लगते हैं। पेड़ों में हरियाली और फलों का अभाव प्रचण्ड होता जा रहा है—इनके पीछे इस भू-गर्भ के ('सब स्वायल') पानी की भी एक कहानी है। फलों का ही अभाव नहीं, पृथ्वी के वृक्ष-हीन होने से उसकी उपज भी मारी जाती है।

सरकारी पक्ष इस दोष को स्वीकार नहीं करता। वे कहते हैं कि इन दिनों अब नलकूप इतने गहरे जाते हैं कि धरती की ऊपरी सतह की आर्द्रता पर असर नहीं होता। परन्तु इतनी तो आम तौर से शिकायतें आ ही रही है कि नल-कूपों से सींचे हुए खेतों में बालू आदि के कई दोष उत्पन्न हो रहे हैं। एक शिकायत यह भी है कि 'नल-कूपों' से व्यक्तिगत आवश्यकता और सुविधा के अनुसार पानी सुलभ नहीं होता। किसानों की सहकारिता, उनकी स्वचेतना और स्वचेष्टा—सभी मारी जाती है।

भारत के भोजन की समस्या और पृथ्वी को उपजाऊ बनाने के प्रश्न को हल करने के लिए सरकार को इन सारी

बातों का ध्यान रख कर बड़ी सावधानी के साथ स्थायी उपयोगिता की दृष्टि से काम लेना चाहिये।

उत्तर प्रदेशीय सरकार ने गाँवों में नल-कूपों की पंच-वर्षीय योजना बनाई है। कुछ कुएँ बन चुके हैं। एक कुएँ पर २००००) के लगभग लगते हैं; एक कुएँ से सरकारी कानूनों की पेचीदा परेशानियों के साथ कई गाँव की सिंचाई होती है। अब तक अनुभव यही रहा है कि इन नल-कूपों से सिंचाई की समस्या बहुत कुछ हल हुई है तो गांव वालों को असन्तोष भी कम नहीं है। कुछ तो मौलिक दोष हैं, कुछ सरकारी नियंत्रण आदि के कारण हैं। इन सब को मिला कर यही कहते बनता है कि नल-कूपों से गाँव की सिंचाई के प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करके ही इसे अमल में लाना है। जो आपत्ति ट्रैक्टरों के विरुद्ध है, वही नल-कूपों के विरुद्ध भी है क्योंकि इन नल-कूपों से गाँव के आदमी और बैल, दोनों बेकार होते हैं। गोरक्षा भारतीय संस्कृति का आधारभूत अंग है। इन नल-कूपों से उस पर गहरा धक्का लगता है। वस्तुतः, भारत के उन गाँवों में जहाँ जमीन पथरीली नहीं और कुएँ खोदे जा सकते हैं, अच्छे कुओं की ही व्यापक रूप से व्यवस्था होनी चाहिये।

गो रक्षा—भारत में जमीन के बँटवारे की जो स्थिति है जब तक वह पूर्णतः बदल कर चकबन्दी आधार पर खड़ी नहीं कर दी जाती जमीन को जोतने-बोने में हल-बैल का खास स्थान रहेगा, ट्रैक्टरों का नहीं। आज तो जहाँ ट्रैक्टरों की जरूरत है, वहाँ के लिए भी ट्रैक्टर उपलब्ध नहीं हो रहे

हैं। भारत सरकार की सारी शक्ति के बावजूद भी कुछ सैकड़े ही ट्रैक्टर अब तक विदेशों से आ सके हैं। इसलिए, बैलों के लिए और घी-दूध तथा मक्खन के लिए भी गायों की सख्त जरूरत है। अतः जनता को गो सेवा और गो पालन, तथा सरकार को गोवध निषेध का तुरन्त प्रबन्ध करना चाहिये। गाय भारतीय संस्कृति का आधारभूत अंग है। इसे मिटाने से भारतीय सभ्यता ही मिट जायगी।

अन्न की समस्या के लिए गाय की समस्या—देश में यदि दूध, मक्खन और घी की पर्याप्त व्यवस्था हो तो अन्न की खपत में कमी हो जाये। अतः अन्न के प्रश्न को हल करने के लिए गाय के प्रश्न को हल कर लेना तात्कालिक महत्व रखता है।

ट्रैक्टर—आज देश में ट्रैक्टर का शोर मच रहा है। इस शोर-गुल और इसके पीछे छिपे हुए रहस्य को भी गौर से समझ लेना चाहिये।

अव्वल तो भारत के वर्तमान भौमिक बँटवारे को ध्यान में रखते हुए, जैसा कि ऊपर कहा गया है, ट्रैक्टरों का प्रश्न उठता ही नहीं। यदि यह सम्भव भी बनाया जा सके तो सवाल होता है दूध और घी का। आप खेती करेंगे ट्रैक्टर से तो बैलों की आप को जरूरत रहेगी नहीं। गाय के बच्चे नर और मादा—दोनों होते हैं। मादा को तो गाय बनाने के लिए रखना चाहेंगे परन्तु नर को मजबूरन मार खाना होगा या चमड़े के लिये जबह कर देना होगा। इस तरह भारत

की गो रक्षा और गो सेवा समाप्त होकर गो-रक्षक देश गो-भक्षक ही नहीं बनेगा, बल्कि भारत का सारा आर्थिक ढाँचा ही उलट-पुलट जायेगा।

धीरे-धीरे गाय पालना भी कठिन हो जायेगा क्योंकि गाय के लिए साँड की समस्या व्यक्ति के हाथ से निकल कर समूह और केन्द्र के हाथ में पहुँच जायेगी। और अन्त में इसका विस्तार इस प्रकार होगा कि प्रत्येक गाय के लिए दुरूह साधनों से एक साँड़ लाने के बजाय पिचकारी से गो वंश को जारी रखना अनिवार्य हो जायेगा।

परन्तु इससे भी भयंकर बात तो यह होगी कि ट्रैक्टर को एक बार स्थान दे देने से उनके लिए पूरी जमीन देनी पड़ेगी, यानी लोगों को अपनी अलग-अलग जमीनें एकत्र कर देनी पड़ेंगी और लोगों का स्वतन्त्र, चेतन, स्वामित्व खतम होकर जड़वादी सामूहिकता में विलीन हो जायेगा। मतलब यह कि ट्रैक्टर को अपनाने का सीधा सा अर्थ है समूहवाद को आमंत्रण देना।

इसलिए यदि भारत की खाद्य समस्या को हल करना है तो ट्रैक्टरों के धोखे में हर्गिज नहीं आना चाहिये। यह उद्योग-पतियों का नाग-फाँस है जो आपको भाड़ में झोंक कर भी अपनी मशीनें बेंचना चाहते हैं।

उसी तरह धरती को उपजाऊ स्थिति में सुरक्षित रखनें के लिए जंगलों की जरूरत है। गायों के लिए चरागाह की जरूरत है—ये सब सार्वजनिक की अपेक्षा सरकारी प्रश्न

अधिक हैं और इसीलिए यदि सरकार सचमुच भोजन की समस्या को हल करना चाहती है तो उसे फौरन जनता के सहयोग और जनता की सहायता से इन्हें हल कर लेना चाहिये। भला इसी में है कि झूठी धारणाओं को छोड़कर फौरन काम में लगा जाये। वस्तुतः तात्कालिक परिणामों की अपेक्षा स्थायी उपयोगिता ही हमारा मुख्य ध्येय होना चाहिये।

० ० ०

मनुष्य का महत्त्व

: ४ :

अब प्रश्न यह उठता है कि भोजन की समस्या में आदमी का स्थान कहाँ है।

सैन्य और शिक्षण नीति— यह तो स्पष्ट है कि धरती से अन्न उत्पन्न करने के लिए, विशेषतः भारत की वर्तमान स्थिति में, मनुष्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु दुःख की बात यह है कि सरकार की सैनिक और शिक्षण नीति आदमी को खेती से निकाल कर दूर फेंक दे रही है। संसार की अन्य सरकारों के समान ही भारत सरकार भी सेना और शिक्षण शालाओं का विस्तार करती जा रही है यानी दिन-प्रति-दिन अधिकाधिक आदमी खेती छोड़ कर अनुत्पादक होते जा रहे हैं। चूंकि सैनिक वर्ग अधिकांशतः गाँवों से ही आता है इसलिए जितने सैनिक बढ़ रहे हैं, उतने ही लोग अन्न के उत्पादन से खींच लिये जा रहे हैं, यानी अन्न के उत्पादन में उतनी ही कमी होती जा रही है। शिक्षा प्रणाली भी पढ़े-लिखे बेकारों की संख्या में दिन दूनी, रात चौगुनी, वृद्धि कर रही है। इसलिए सेना और शिक्षा, इन दोनों प्रश्नों पर फिर से विचार करना है। यदि सेनाएँ रखी ही जायें तो उन्हें पक्की बारिकों में बेकार बंद कर रखने के बजाय ग्रामीण क्षेत्रों में रखना बेहतर होगा ताकि जब तक वे मोर्चे पर न जायें, खेती में मदद करती रहें। इससे अन्न का उत्पादन बढ़ जायेगा और सरकार को

भी काफी आर्थिक मदद मिलेगी। सैनिक स्वयं तो अनुत्पादक हो ही जाते हैं, उनके भोजन के लिए दूसरों को अन्न उत्पन्न करना पड़ता है। यह दुहरा बोझ है।

खेती और बाबू वर्ग— आज की शिक्षा शुद्ध बौद्धिक शिक्षा है। जो पढ़-लिख लेता है वह अपना काम दूसरों से लेने लगता है। इस तरह भी खेती-किसानी से बहुत बड़ी जन शक्ति शून्य हुई जा रही है। गाँव के लड़के पढ़कर शहरों में झक मार रहे हैं और गाँव से जन-बल और बुद्धि-बल, दोनों गायब होता जा रहा है। इस तरह कृषि और ग्रामोद्योग, सब खतम हो रहे हैं। ग्रामोद्योग से ही कृषि और कृषि से ग्रामोद्योग चलते हैं। इन्हें चलाने-वाले ही शहर और दफ्तरों में गायब हो रहे हैं तो फिर भला भोजन की समस्या कौन हल करेगा? भोजन की समस्या बौद्धिक योजनाओं से नहीं, व्यावहारिक कार्यक्रमों से ही हल होगी। परन्तु काम करने वाले प्रोफेसर, आचार्य, वक्ता और बाबू बन रहे हैं, फिर खेती कौन करे? खेती को सुधारे और बढ़ाये कौन?

वर्तमान शिक्षा पद्धति और कृषि—इतना ही नहीं। चूंकि आज की शिक्षा किताबी है, इसलिए पढ़ने वाले यानी विद्यार्थी वर्ग, बच्चे और बड़े, सभी प्रत्येक प्रकार के उत्पादन से वञ्चित रहते हैं। इस तरह हम समझ सकते हैं कि देश की अपार जन शक्ति निष्क्रिय, बल्कि विनष्ट हो रही है। इस विनाश का बहुत बड़ा प्रभाव कृषि और गो-पालन पर पड़ता है। अतः यदि इस घातक स्थिति को मिटाना है तो देश की शिक्षण पद्धति

को गांधी जी की योजनाओं के अनुसार उत्पादक वनाना होगा, वलिक स्वयं उत्पादकों को उत्पन्न करनेवाली वनाना होगा।

पूर्ण खेती – परन्तु जव तक हम "पूर्ण खेती" नहीं करते खेतों से हमें पूर्ण लाभ नहीं मिल सकता और न उससे काफी लोगों की पूर्ति ही हो सकती है। इसीलिए उद्योगवादी कहते हैं कि भारत में हिसाव से अधिक लोग खेती में लगे हुए हैं। इस प्रकार वे खेती से लोगों को अलग करके मिलों की मजदूरी के लिए वातावरण तैयार करना चाहते हैं। जव तक इस वात को ध्यानपूर्वक समझ कर काम नहीं किया जाता, अन्न का गुण और परिमाण दोनों अपूर्ण रहेगा।

पूर्ण खेती के अर्थ को अधिक स्पष्टता से समझने की जरूरत है। किसान धान, गेहूँ, और तेलहन—अनेकों चीजों का उत्पादन करता है। यदि वही धान से चावल वनाकर वेंचे तो यह पूर्ण खेती होगी। गेहूँ गाँव में पैदा हो और आटा मिलों में पीसा जाये तो वह यही नहीं कि अपूर्ण खेती होगी और समाज का स्वावलम्वन और प्राकृतिक उद्योग नष्ट होगा वल्कि गाँव का गेहूँ मिलों में पीस कर गाँव में आटा वाँटना, स्वास्थ्य की दृष्टि से, विष वाँटने के समान होगा। धान को कूट कर चावल तैयार करने की प्रक्रिया तक खेती की सीमा है। यदि धान गाँव में पैदा हो, भूसी मिल में छुड़ायी जाये और चावल कहीं दूरस्थ किसी तीसरी मिल में कूटा जाय तो धान पैदा करनेवाले किसान का काम अपूर्ण होगा और वह अपूर्ण खेती कहलायेगी। उसी प्रकार उरद, मूँग और तूर

की वात है। उसी प्रकार सरसों और अलसी की वात है। गाँव में सरसों पैदा की जाय और तेल कहीं दूर-दराज, किसी मिल में तैयार हो तो यह अपूर्ण खेती होगी। गाँव में सरसों और गाँव में ही तेल पैदा होना चाहिए। उसी प्रकार गाँव में ही कपास और उसकी प्रक्रिया को पूर्ण करने के लिए गाँव में ही वस्त्र भी तैयार होना चाहिये वरना कपास गाँव में पैदा करके अहमदावाद और वम्वई की मिलों में कपड़े तैयार करना, अपूर्ण कृषि कहलायेगी। यह विल्कुल गलत प्रक्रिया है।

परिणामतः आज जो लोग खेती में लगे हुए हैं वे खेती पर भार वन रहे हैं क्योंकि कृषि-जन्य स्वाभाविक उद्योगों का मिलों में स्थानान्तरण हो गया है। इस प्रकार ग्रामोद्योगों के मारे जाने से गाँवों की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गयी है। इसका निराकरण किये वगैर खाद्य समस्या का सच्चा हल प्रस्तुत करना असम्भव हो जायेगा।

गृह उद्योग—जापानी और भारतीय पद्धति— इन गृह उद्योगों की सृष्टि करते समय हमें खास वात ध्यान में यह रखने की है कि ये जापानी नमूने पर कल-कारखानों के द्वारा नहीं चलेंगे क्योंकि जापान खेतिहर नहीं, औद्योगिक देश है, इसलिए वहाँ के गृह-उद्योग खेती नहीं, कारखानों के प्रतिरूप और पूरक हैं। उनका आधार केन्द्रीकरण है, विकेन्द्रीकरण नहीं। वहाँ उत्पादन अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के लिए किया जाता है, स्व-सम्पन्नता के लिए नहीं। भारत की भोजन समस्या केन्द्रीकरण के कारण ही खतरे में पड़ गयी है। केन्द्रीकरण का

उद्देश्य मनुष्य को बेकार बना देना है। हमें मनुष्य को स्वावलम्बी और सबल इकाई में परिणत करना है। बिना इसके कोरे केन्द्रीय कानूनों से देश की भोजन समस्या हल नहीं होगी।

वृद्धमान जनसंख्या और अन्नोत्पादन – हम देख रहे हैं कि पश्चिमी जड़वाद के चक्कर में पड़कर भारतीय विद्वानों की भी बुद्धि उलट गयी है। कहा जाता है कि हिन्दुस्तान की आबादी बढ़ रही है। आबादी बढ़ रही है यानी अन्न की आवश्यकता बढ़ रही है। इसके इलाज के लिए उतना ही अधिक अन्न उत्पन्न करने के बजाय गर्भपात और भ्रूण हत्या को समाज धर्म और सरकारी कानून बनाया जा रहा है, परिवार नियोजन बताया जा रहा है। गर्भ पात के रास्ते चलनेवाला देश दुर्बल और पतित लोगों का ही झुण्ड हो सकता है जिसे दूसरों की लाठी पर चलाना होगा।

शरणार्थी समस्या और कृषि — इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि बढ़ती हुई आबादी के लिए अधिकाधिक अन्न उत्पन्न करने की दृष्टि से खेती और ग्रामोद्योगों की समन्वित धारा कायम की जाये। आज भारत में पाकिस्तानी पलायन के फल-स्वरूप इस नीति को तुरत अमल में लाने की जरूरत है क्योंकि शरणार्थियों की समस्या स्थायी होते हुए भी तात्कालिक समाधान की माँग कर रही है। उनके लिए झटपट कुछ न कुछ किया ही जायेगा और यदि नींव गलत पड़ गयी तो निश्चय ही हमारे भोजन की समस्या और भी जटिल हो जायेगी। भागे हुए लोगों को हिन्दुस्तान में बसा लेना ही

वहादुरी नहीं होगी। यदि ढंग से काम न हुआ तो लोग वहाँ से भाग कर यहाँ गुलाम वन जायेंगे, और अपने साथ यहाँ वालों को भी गुलाम वना देंगे। इसलिए कलकत्ता और वम्वई में इनके वास्ते सीमेण्ट के वंगले तैयार कराने के वजाय इन्हें ग्रामीण क्षेत्रों में स्थान देकर कृषि और ग्रामोद्योग द्वारा देश को समृद्ध और स्वावलम्वी वनाने का भार इन्हें सौंप देना चाहिये। इस प्रकार सरकारों का भी वोझ हल्का होगा।

अकाल का सच्चा समाधान—तकावी नहीं, ग्रामोद्योग— आज सरकारें करोड़ों रुपये "अधिक अन्न उपजाओ" पर खर्च कर रही हैं। यदि यह सारा कार्य समझ-वूझकर, सही ढंग से न किया गया तो नतीजा कुछ न निकलेगा। यदि देश को अकालों से वचाना है तो तत्काल पञ्चायतस्थ गृह उद्योगों की सवल सृष्टि करनी होगी। देश में अन्न की कमी तो है ही परन्तु जहाँ अन्न है भी वहाँ वहुत से लोग पैसे न होने के कारण भोजन प्राप्त नहीं कर सकते। आज चावल रुपये का सेर-डेढ़ सेर और गेहूँ २।।-२।।। सेर मिल रहा है। जिनके पास खेत नहीं, अन्न नहीं, इतना महँगा अनाज खरीदने को उनके पास इतना पैसा भी नहीं होता और वे भूखों मरते हैं। तकावी वाँट कर, सड़कें वनवा कर, या दूसरे सरकारी कार्यों में लगाकर लोगों को कुछ पैसे दे देना सरकारों की पुरानी नीति रही है। इससे भी लाभ हो सकता है परन्तु वह लाभ पूरा या स्थायी नहीं होता। इस तरह लोगों को कोई स्थायी क्रय शक्ति नहीं प्राप्त होती। यह तो भूखे कुत्ते को रोटी का

टुकड़ा फेंक देने के समान है, समस्या का सच्चा समाधान नहीं हो सकता। स्थायी समाधान के लिए तो ऐसी व्यवस्था करनी होगी जिससे लोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए स्वयं समर्थ बन सकें। ऐसा नहीं हो तो भारत की भूखी भीड़ और नाज़ियों के बन्दी गृहों में कोई तात्विक अन्तर न होगा— दोनों सरकार की दया वृत्ति पर ही जीवित रहते हैं।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि भुखमरी और अकाल की आशंका को मिटाकर जनता को सबल और स्वावलम्बी बनाने के लिए ऐसे कृषि-जन्य उद्योगों की स्थापना की जाये जो सरकारी अनुमति पत्र और केन्द्रीय योजनाओं के मुँहताज न रह कर स्थानीय साधनों के द्वारा प्रफुल्लित हों जैसे खादी, घानी, चक्की, ढेकी, गो पालन, ताड़ गुड़ आदि आदि। इन उद्योगों से लोगों को पैसे तो मिलेंगे ही कृषि भी 'स्वयंपूर्ण' होगी। तात्कालिक समाधान में स्थायी निर्माण का फल प्राप्त होगा। चूंकि यह सब उत्पादक कार्य होगा, इसलिए स्वभावतः राष्ट्रीय सम्पत्ति में वृद्धि होगी। राष्ट्रीय सम्पत्ति में विस्तार का अर्थ ही होता है वैयक्तिक समृद्धि के साथ सरकारी आय का विस्तार यानी जो धन सरकारी कोष से इन नंगे-भूखों को पालने में खर्च होता है वह तो बचेगा ही उलटे सरकार को खर्च के बजाय आय का साधन प्राप्त होगा।

इस प्रकार जब तक भोजन की इस जटिल समस्या को व्यापक और संगठित रूप से हाथ में नहीं लिया जाता कल्याण की आशा छोड़ रखनी चाहिये।

● ● ●

कृषि और गाय* : ५ :

पंचायत का पहला काम–विदेशी अन्न का आर्थिक पहलू– पंचायत बनाकर आपको सबसे पहला काम करना होगा अपने अन्न और वस्त्र की व्यवस्था का। आपको सबसे पहले इन्हीं वस्तुओं की जरूरत है और इन्हीं चीजों के इन्तजाम के बहाने पूंजीवादी राक्षस आपकी छाती पर बैठना चाहता है। आप हैं किसान। आपका सबसे पहला काम है मुल्क का पेट भरना। आज आप जो अन्न पैदा करते हैं, वह काफी नहीं। जो हिंदुस्तान सारी दुनिया का पेट भरता था, उस हिन्दुतान को अब १०० करोड़ रु० का अनाज बाहर से मँगाना पड़ता है। भारत के किसानों पर यह कलंक का टीका है। फिर इस १०० करोड़ के अनाज आने का मतलब क्या है? जब अंग्रेज ६० करोड़ रु० का कपड़ा लेकर आये तो आपने बढ़ती अनाज पैदा करके उसका दाम चुकाया था। आज जब आप बाहर से ही अनाज मँगा रहे हैं तो उसके बदले में आप क्या देंगे? क्या यह बात आपने कभी सोची है? यह तो उधार ही आवेगा न? जब अंग्रेजी सौदा का नकद दाम चुकाने पर भी अंग्रेज आपके मालिक बन बैठे थे तो क्या यह उधार गल्ला देनेवाले आपको छोड़ देंगे?

आपको तो खूब मालूम है कि नकद देनेवाले बनिया और

---

* विस्तार के लिए धिरेन्द्र भाई का "यह स्वराज्य कैसा ?" देखें।

उधार देनेवाले पठान में क्या अन्तर है? इस तरह नकद बेचनेवाले अंग्रेजों से उधार देनेवाले रूस और अमेरिका कितने भयंकर होंगे इसका अन्दाज आप ठीक-ठीक लगा सकते हैं। इसलिए गाँव समिति बना कर आपका सबसे पहला काम है कि आप अपनी जमीन की पैदावार बढ़ावें ताकि वह १०० करोड़ रु० का अनाज न आने पावे।

गोपालन और कृषि—आप किसान हैं। आपको यह बताने की कोई जरूरत नहीं कि खेती की पैदावार बढ़ाने के लिए आपको चाहिये अच्छा बैल और इफरात खाद। पुराने जमाने में लोग कहते थे कि एक बीघा जमीन में २५ और ३० मन अनाज पैदा होता था। आज उसी खेत में ८ और १० मन अनाज पैदा होता है। यह क्यों? क्या आपने कभी इसका कारण सोचा है? उस जमाने में सारी जमीन के दो हिस्से होते थे। एक हिस्सा लिखा था माता अन्नपूर्णा के नाम, उसको जोतकर अन्न पैदा करने के लिए। और दूसरा लिखा था गो माता के नाम। हमारे देश में गो धन सबसे बड़ा धन माना जाता था। गोचर भूमि में गौवें स्वच्छन्द चरती थीं, उनके बलवान बछड़े खेत में गहराई तक जोतते थे। उनके गोबर से इफरात खाद होती थी। और उनके दूध पिये हुए बालक सयाने होकर भरपूर मेहनत करते थे। यही कारण था कि उस जमाने में भारत भूमि की पैदावार इतनी होती थी। इसी कारण से आपके समाज में गो रक्षा का इतना महत्व बतलाया गया।

लेकिन जब से आपको अंग्रेजों ने मिल का कपड़ा दिया, आपने चर्खा चलाना त्याग दिया और मिल के कपड़े के बदले में उसका दाम चुकाने के वास्ते बढ़ती अनाज पैदा करने के लिए गो माता की भूमि का भाग जोतकर लाखों-करोड़ों गौओं का नाश कर डाला। इस तरह मिल के कपड़ों में फँस कर आपने करोड़ों गौओं की हत्या का पाप अपने सिर पर लाद लिया। क्या आपने कभी इस बात को सोचा है? आज अगर मुसलमान एक गौ का बलिदान किसी ईद के दिन कर देता है तो आपके क्रोध का पारा गरम होकर सैकड़ों मुसलमानों का वध करने के लिए तैयार हो जाता है। लेकिन क्या कभी आपने इस बात को भी सोचा है कि इस भयंकर मिल देवता की पूजा में आपने कितने लाख, कितने करोड़ गौओं की हत्या स्वयं कर डाली है? आप में से बहुत से लोग केसरिया झण्डा लेकर हिन्दू-धर्म के रक्षा की बात करते हैं। हिन्दू धर्म की रक्षा नारा लगाने से नहीं गो, रक्षा से होगी।

गाय और खाद्य समस्या—इस तरह जब मिल के कपड़े की लालच में पड़कर आपने गाय को निर्वंश कर डाला तो आपको न अच्छा बैल मिलता है, न अच्छी खाद। नतीजा यह हुआ कि आपने खेत तो बढ़ा लिया लेकिन पैदावार हो गयी आधी और खानेवाले हो गये दूने क्योंकि जब पहले सब घर में गोपालन होता था तो बच्चे पीते थे दूध और बड़े खाते थे अन्न; आज बच्चों को भी भरोसा है उसी अन्न का। एक घर में यदि दो बड़े आदमी हैं तो उस घर में हैं

चार बच्चे और यदि बड़े खाते हैं ३ बार तो बच्चे खाते हैं १३ बार। इस तरह गाय के निर्वंश होने से सिर्फ बैल और खाद की ही कमी नहीं, बल्कि आपके अन्न पर दूना खानेवाले हो गये। फिर यदि उसी अनाज पर आप अपने कपड़े का भी बोझ डालना चाहते हैं तो कहाँ से मिलेगा खाना और कहाँ से मिलेगा कपड़ा ?

भैंस और गो रक्षा—इसलिए अगर आपको अन्न की पैदावार बढ़ा कर अपने को नाश से बचाना है तो आपका पहला काम है गोपालन। आज तो हम देखते हैं कि लोग गोपालन के बदले भैंस पालते हैं। आप जिस हिन्दू धर्म की बात करते हैं उस धर्म के किसी ग्रंथ में महिषि-धन नहीं लिखा हुआ है। सभी जगह गो-धन ही कहा गया है। महिषि को धर्म ग्रंथ में असुर कहा गया है। आज खेती के लिए बैल बाजार में खरीदते हैं, दूध और घी के लिए भैंस पालते हैं। अगर आप गाय नहीं पालते तो आपके बैल कहाँ से आवेंगे ? नतीजा यह होगा कि आपको बैल सप्लाई करने के लिए बैल के व्यापारी ही गोपालन करते रहेंगे। उसमें से बछिया और बछड़ा दोनों पैदा होते हैं। अगर आप बछड़ा के ही गाहक होते हैं तो बछिया कौन लेगा ? अगर पालनेवाले उसे नहीं लेंगे तो वह जायगा खानेवालों के ही हाथ में। इसी तरह आपके देश में ४० लाख गौवों की हत्या हर साल होती है और उसके जिम्मेदार हैं किसान जो अपनी खेती के लिए बाजार से बैल खरीदते हैं और दूध-घी के लिए भैंस पालते

हैं। आज-कल गो हत्या बंद करने का नारा जोरों से चला है। इसके लिए कानून बनाने की माँग की जा रही है। शायद कानून बन भी जावे। लेकिन जब आप गोपालन न करके भैंस पालन करेंगे तो कानून बनाने से ही गो हत्या कैसे बंद होगी ?

चर्खा और गोपालन—किसान भाई कहते हैं—"हम गऊ कहाँ से पालीं ?" उनके लिए गोचर भूमि चाहिये। वह भूमि आज कहाँ है ? जो भी जहाँ-तहाँ जो कुछ परती जमीन बाकी है, लोग उन्हें भी तोड़ते जा रहे हैं। फिर गो माता के लिए जमीन कहाँ से लावें ? भाइयो; मैंने आपको अभी बतलाया है कि पुराने जमाने में आपकी जमीन दो हिस्सों में बँटी थी। एक माता अन्नपूर्णा के नाम और दूसरी थी गो माता के नाम। आप जिस समय कपड़े के लिए चर्खा छोड़ कर मिल का भरोसा करने लगे तो आपने गो माता को उसकी जमीन से बेदखल कर उसी जमीन में बढ़ती अन्न पैदा करने की विफल चेष्टा भी।

गाँधी जी बारबार यही बात आप से कहते रहे कि आप चर्खा चलाकर अपना कपड़ा बना लें और गो माता के हिस्से की यह जमीन मिल असुर के हाथ से छुड़ा कर गोचर भूमि के लिए परती छोड़ दें। इसी से आपके वस्त्र और अन्न, दोनों का इंतजाम हो जायगा। ऐसा करने से जमीन अनाज के लिए बाकी बचेगी और उसी में आज का ड्योढ़ा अन्न पैदा होगा। लोग कहते हैं कि गांधी जी ने खेती की बात नहीं

की और चरखे पर ही सारा जोर लगाया। भाइयो ? गांधी जी हमेशा दूर की और गहराई की बात सोचा करते थे।

विना गोपालन खेती की तरक्की नहीं हो सकती, विना गोचर भूमि के गोपालन नहीं हो सकता, और विना चर्खा चलाये मिल असुर के कब्जे से गोचर के लिए भूमि नहीं खाली हो सकती। यही कारण था कि गाँधी जी बार-बार चर्खे पर जोर देते रहे। इस तरह अपने को बचाने के लिए आप को दो महान असुरों का नाश करना है, वे हैं दूध घी के लिए भैंसें और कपड़े के लिए मिलें।

• • •

सामाजिक पहलू : ६ :

धरती का उपयोग सामाजिक दृष्टि से हो—हम व्यक्ति के चेतन अस्तित्व और क्रियात्मक व्यक्तित्व को स्वीकार करते हैं। उसे हम समाज के किसी जड़ अंश के रूप में नहीं देखते और इसी लिए हम वैयक्तिक सम्पत्ति की सत्ता को निर्मूल नहीं बता सकते। परंतु इस वैयक्तिक सम्पत्ति को हम केवल समाज के संदर्भ में ही समझ सकते हैं। हम पश्चिम के स्वच्छंद व्यक्तिवाद को उतना ही घातक और अविवेकपूर्ण मानते हैं जितना जड़वादियों के समूहवाद को। कहने का मतलब, धरती पर किसानों के व्यक्तिगत स्वामित्व को स्वीकार करते हुए भी हमें ध्यान में रखना होगा कि धरती का उपयोग सामाजिक और सामूहिक सुख-समृद्धि की दृष्टि से ही होना चाहिये, अन्यथा सारी समाज व्यवस्था ही नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी, सारे राष्ट्र का जीवन खतरे में पड़ जायेगा,—पड़ा हुआ है।

धरती का आनुपातिक बँटवारा—आज हम देखते हैं कि एक गांव का क्षेत्रफल १००० एकड़ है और १०० परिवार उसमें आवाद हैं। इन आदमियों के साथ गाय-बैल और अन्य पशु भी हैं। औसत प्रति परिवार १० एकड़ की पड़ी या परिवारों की जनसंख्या के हिसाब से कुछ कम या ज्यादा भी

हो सकती है। परंतु यथार्थ यह है कि सम्पूर्ण क्षेत्रफल का बहुत बड़ा हिस्सा कुछ इने-गिने लोगों के हाथ में है और शेष थोड़े से हिस्से में सारा गाँव नन्हें-नन्हें से टुकड़ों को लेकर जिंदगी और मौत की यातना भोग रहा है। बेशक जमींदारियाँ खतम हो रही हैं, परन्तु धरती का आनुपातिक बँटवारा करना अब भी शेष है। समस्या का वास्तविक हल तो यहीं से प्राप्त होगा। जब तक ऐसा नहीं होता हमारी कृषि परिणाम-जनक सिद्ध नहीं होगी, और कृषि ही परिणामजनक नहीं सिद्ध होती तो भोजन की समस्या का सच्चा हल भी नहीं प्राप्त हो सकता।

संतुलित कृषि— परन्तु धरती के बटवारे से भी बड़ा प्रश्न संतुलित कृषि का है। आवश्यकता इस बात की है कि हम एक-एक गाँव को लेकर देखें कि प्रत्येक गाँव में कितने खाद्य की आवश्यकता है, कितने चारे और चरागाह की आवश्यकता है, और फिर उसे क्षेत्रफल और जनसंख्या के हिसाब से बाँट कर पूरा करने की व्यवस्था की जाये। परन्तु आज हो यह रहा है कि १००० एकड़ में से ५०० में गन्ना, मूँगफली, जूट और कपास की खेती हो रही है जिसे मिलों को भेंट करके करेन्सी नोट बटोरने की फ़िकर में लोग व्यस्त हैं और बाकी ५०० एकड़ में गाँव भर के भोजन की सीमा बाँधी जाती है, पशुओं के चारे और चरा-गाह का हिसाब लगाया जाता है। स्वभावतः नतीजा यह होता है कि खाद्यों का अभाव लोगों को उत्पीड़ित करने लगता है। और फिर भी हम यह कहते

हैं कि आज किसान बड़ा खुशहाल है। हो सकता है कि उसके पास करेन्सी नोट हों, पर पेट के लिए रोटी के लाले भी पड़े हुए हैं।

खेती पंचायतों की अनुमति और निर्देश से हो — वस्तु-स्थिति यह है कि जिनके पास जमीन काफी है वे तो ठीक हैं परन्तु जिनके पास काफी जमीन नहीं है वे गांवों में रह कर भी दानों के लिए बेहाल हो रहे है। इसलिए तत्काल आवश्यकता इस बात की है कि गाँव की खेती गाँव पंचायतों की सलाह और अनुमति से ही होनी चाहिये यानी कितनी धरती में कितना गेहूँ, कितनी धरती में कितनी तिलहन, कितनी धरती में कितनी दाल, कितनी कपास और कितना गन्ना पैदा करना है—उसी हिसाब से लोगों को पैदावार का आदेश दिया जायेगा।

पंचायती माध्यम और खाद्य समस्याएँ — इस प्रकार गाँव भर की प्राथमिक आवश्यकताओं की सरलता पूर्वक एवं संतोषजनक रीति से पूर्ति हो सकेगी। आज जो हम चारों ओर से भुखमरी का शोर सुन रहे हैं, उसका अधिकांश निराकरण हो जायेगा। इस तरह खाद्यों का अधिकाधिक उत्पादन हो सकेगा और जैसा कि पीछे कहा जा चुका है कि सरकारों को पंचायतों के माध्यम से आसानी के साथ पर्याप्त मात्रा में खाद्यों की प्राप्ति हो सकेगी और गल्ला वसूली के खर्चीले एवं अन्यायपूर्ण रास्ते पर उसे उतरने की जरूरत ही नहीं होगी। आधिक्य क्षेत्रों (सर्प्लस एरिया) से अभावग्रस्त

क्षेत्रों (डेफिशेंट एरिया) की पूर्ति करने में आसानी होगी। पंचायतों से (व्यक्तियों से नहीं) प्राप्त खाद्यों को स्थानीय गोदामों में सञ्चित करके स्थानीय आधार पर वर्तुलाकार विस्तार के साथ पूर्ति करते जाने की नीति से खाद्यों के नष्ट होने की सम्भावनाएँ, यातायात की अड़चनें—सारी खतम हो जायेंगी। इस तरह यह भी आसान हो जायेगा कि देश के अभावग्रस्त क्षेत्रों की दृष्टि से कहाँ, कितना अधिक, और क्या उत्पन्न किया जा सकता है। उसी समय यह भी आसान होगा कि जूट, चीनी और कपास आदि की ऐसी व्यवस्था की जाये जिससे जनता की बुनियादी चीजों में कमी न हो। सम्भव है कि सारे हिसाब और सारी संयोजित चेष्टा के बाव-जद भी आवश्यक खाद्य का पर्याप्त उत्पादन सम्भव न हो। ऐसी हालत में पंचायतों और सरकारों को यह आसानी से पता रहेगा कि बाहर से कितनी चीजें मँगानी हैं।

संतुलित कृषि के इन तरीकों से वैयक्तिक सम्पत्ति के सिद्धांत अक्षुण्ण बने रह सकते हैं, सामूहिक कृषि (कलेक्टिव् फार्मिंग) की अप्रियता से भी लोग वञ्चित रह सकते हैं।

खाद्यों के अधिकाधिक उत्पादन की जितनी सख्त जरूरत है उनके रक्षण की आवश्यकता उससे कम नहीं है। इस रक्षा कार्य में वैयक्तिक चेष्टाओं का जहाँ तक सामूहिक महत्त्व है, हमने आगे विचार किया है, यहाँ हम रक्षा के केवल उसी अंश को ले रहे हैं जिससे सरकार और समाज का संयोजित सम्बन्ध है। इस स्थल पर हमारा ध्यान अति वृष्टि, अनावृष्टि;

वाढ़ और बंदरों के प्रकोप या अन्य ऐसे ही उपकरणों पर ज़ाता है।

वरसाती पानी का निकास— हम देखते हैं कि स्वयं अति वृष्टि से उतनी हानि नहीं होती जितनी कि वर्षा के पानी के जमाव से ताल-तलैया, नदी-नाले वन कर फसलों को डुवा रखने से होती है। इसलिए जरूरत इस वात की है कि हमारी सारी विकास योजनाओं में वरसाती पानी के निकास की सुनिश्चित व्यवस्था को सवसे पहले हाथ में लिया जाये। हमारा अनुभव है कि जहाँ भी यह समस्या वर्तमान है वहाँ की जनता को यदि थोड़ी सी भी सरकारी सहायता मिल जाये तो वह स्वयं इस चिरकालीन विपदा से मुक्त होने की व्यवस्था कर सकती है। सरकार को केवल प्रेरणा और सहारा देने भर की जरूरत है। उसी प्रकार अनावृष्टि के लिए कूओं और नहरों की भी व्यवस्था की जा सकती है। वेशक वाढ़ की समस्या भयंकर और जटिल है जो गाँव और जिलों के आधार पर नहीं, राष्ट्रीय या प्रान्तीय आधार पर हल करनी होगी।

वाढ़ और कृषि— प्रति वर्ष देश का अपरिमित अन्न नदियों की वाढ़ में विनष्ट हो जाता है। जव तक इस प्रश्न को हल नहीं किया जाता भारत की भोजन समस्या सुनिश्चित और विकासमान वन ही नहीं सकती। यह समस्या दामोदर योजना से भी अधिक जरूरी है।

यह वुद्धिमत्ता समझ में नहीं आती कि वर्षों में अरवों के

खर्च से तैयार होनेवाली सिंचाई की योजना में हम उलझे रहें परन्तु हर साल करोड़ों मन अन्न को नदियों की बाढ़ से बचाने का कोई तात्कालिक उपाय न हो। यथार्थतः इस काम को हमें सबसे पहले हाथ में लेने की जरूरत है। नदियों की बाढ़ को रोकने के लिए मजबूत बाँधों की जरूरत है। इस कार्य में सरकार को प्रत्येक गाँव से अपार धन और जन की सहायता मिलेगी। नदियों के बाँध की जिम्मेदारी सम्बद्ध क्षेत्रों में टुकड़ा-टुकड़ा करके बाँट देने से कार्य जल्द और आसानी से पूरा हो सकता है। जो गाँव के सामर्थ्य के बाहर की बात हो उसे चाहिये कि सरकार सुलभ बनाये। जो लोग इस कार्य में सहायक नहीं होते उन पर सरकारी दबाव डालने के बजाय उन्हें छोड़ देना चाहिये। जब वे देखेंगे कि सहायता देनेवाले सुखी हैं और वे सहायता न देने के कारण विनष्ट हो रहे हैं तो स्वाभाविक रूप से सरकार के साथ हो जायेंगे।

बन्दर— बाढ़ के बाद बन्दरों की समस्या कृषि के लिए विशेष चिन्ता का विषय बन रही है। बंदरों के अमेरिकी व्यापार की नारकीय कहानियों से तो किसी इन्सानी दिल में दर्द, क्षोभ और घृणा का संचार होगा परन्तु जो लोग सीधे तौर से भी बंदरों को मार डालने के पक्ष में नहीं हैं समस्या उनके लिए अधिक जटिल है। बंदरों को पकड़ कर जंगलों में छोड़ देने से वे फिर लौट आ सकते हैं। इसलिए एक सज्जन ने सलाह दी थी कि बंदरों को पकड़ कर भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में नर-मादा करके अलग-अलग बंद कर दिया जाये। ये स्थान

बड़े-बड़े बागों को "जाली बंद" करके ही तैयार होंगे। कुछ तो उन्हें उन बागों से ही भोजन मिल जाया करेगा और कुछ भक्त जनों के द्वारा भेंट किए हुए आहार से मदद मिलेगी। इस प्रकार जो कुछ खर्च होगा वह स्वच्छन्द विनाश का शतांश, सहस्रांश भी नहीं होगा। दूसरी ओर नर-मादा अलग-अलग रहने के कारण बन्दरों की वृद्धि ही नहीं खतम होगी, कुछ दिन के बाद उनकी जाति ही प्राकृतिक रूप से क्षीण हो जायेगी। इस सलाह पर विचार करने की ज़रूरत है।

● ● ●

प्राप्त साधनों में ही अधिकाधिक उत्पादन की जरूरत— हमारे पास भोजन के जो साधन हैं वे अधिक से अधिक उत्पन्न हों ताकि जीवन के इस मूल प्रश्न पर हम अधिक से अधिक आत्मनिर्भर हो सकें। हमें जितना भी सुलभ है उसका हमें अधिक से अधिक गुण प्राप्त हो ताकि हम थोड़े में भी ज्यादा कर सकें—यही हमारी चेष्टा, यही हमारी योजना होनी चाहिये।

खुराक की हद कायम करें— भोजन की जब देश में कमी है तो भोजन को किसी भी रूप में खराब करनेवाले सीधे देश पर आघात करते हैं। हमारी मूढ़ता से जितना भोजन नष्ट होता है, हम उतना ही देश को कमजोर बनाते हैं। हमारे पास पैसे हैं; हम जरूरत न होते हुए भी सेर के बजाय दो सेर अन्न इस्तेमाल करते हैं—इसका मतलब है कि हमने भूखे लोगों से १ सेर भोजन छीनकर खराब कर दिया। देश में जब पेट भरने का सवाल पैदा है तो किसी को कोई हक नहीं कि वह इन कीमती दानों को जायकों में नष्ट करे—भूखी भीड़ के बीच तश्तरियों का दौर चलाना जुल्म और बर्बरता है। मुल्क के साथ गद्दारी है। आज जो लोग हिन्दुस्तान का दम भर रहे हैं, जो लोग गरीबों की हिमायत कर

रहे हैं, उनका पहला फर्ज है कि अपनी खूराक की हद कायम करें, वरना उनका सारा उपदेश, "अधिक अन्न उपजाओ" के सारे, नारे बेकार साबित होंगे।

खाद्य प्रश्न के समाधान के लिए प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं सचेष्ट होना चाहिये—वैयक्तिक सुख और राष्ट्रीय समृद्धि के सपने देखनेवालों को साफ तौर से समझ लेने की जरूरत है कि जब तक देश को पर्याप्त स्वस्थकर भोजन नहीं मिलता उनकी सारी आशाएँ दुराशा मात्र रह जायेंगी, उनके सारे मनसूबे झूठे साबित होंगे। जो लोग यह सोचते हैं कि सरकारी राशन में ताजी साग-सब्जी, फलों के टोकरे, दूध, दही मट्ठे और मक्खन के डिब्बे, गेहूँ, मूंग, मसूर और शक्कर के बोरे उनके घरों में ढकेले जायेंगे, उनसे बढ़कर बेवकूफ और पागल कोई हो ही नहीं सकता। भोजन प्राणी का वैयक्तिक क्षेत्र है, समाज और सरकारें केवल हमारी सहायता कर सकती हैं। मूल प्रश्न को तो हमें स्वयं हल करना होगा। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि वह सरकार को कोसते रहने के बजाय सावधानी पूर्वक काम में लग जाये।

जनता के पूरी खूराक की व्यवस्था--भोजन के प्रश्न पर सबसे पहले हमारी नजर अपूर्ण और अपुष्टकर भोजन पर ही जाती है। प्रत्येक प्राणी को कम से कम इतना भोजन तो मिलना ही चाहिये जिससे वह जीवन व्यापार को सुचारु रूप से चला सके। अधिक शारीरिक श्रम करनेवालों को अधिक भोजन की जरूरत होती है। यदि यह भोजन सरकारी राशन

से मिलता है तब तो सरकार का पहला काम हो जाता है कि वह ऐसी व्यवस्था करे जिससे जनता को पूरी खूराक मुयस्सर हो सके। और जो नहीं मिलता, उस कमी को स्वयं पूरी करना प्रत्येक व्यक्ति का जीवन धर्म होता है।

खाद्य पदार्थों की तालिका से यह मालूम हो जायगा कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं में कितना जीवन मान यानी किस मात्रा मे जीवन शक्ति होती है। खूराक की शक्ति निर्धारित करने में इससे मदद लेनी चाहिये।

खाद्य का पारिमाणिक के साथ तात्विक गठन जरूरी है—इसके बाद, वल्कि इसी के साथ, हमें यह भी ध्यान में रखना होगा कि हम जो कुछ खाते पीते हैं उनमें आहार और जीवन तत्वों की पर्याप्त संख्या है या नहीं—शरीर केवल पेट भरने से नहीं चलता। भिन्न-भिन्न तंतुओं को स्वस्थकर रीति से सजीव और सक्रिय रखने के लिए अनेक तत्वों की जरूरत होती है और ये सब हमें भोजन के द्वारा प्राप्त होते हैं। इसलिए हम जो कुछ खाते हैं, उसका पारिमाणिक ही नहीं, तात्विक गठन भी होना चाहिये।

तात्विक एवं परिपूर्ण भोजन का प्रमाण—इन दोनों दृष्टियों के मेल से जो भोजन लिया जाता है वही शरीर में जीवन उत्पन्न करता है, शरीर संवर्द्धन और संपोषण का कारण वनता है, मनुष्य स्वस्थ और क्रियाशील वना रहता हैं, प्रसन्नता उसके चेहरे पर छलकती रहती है, उसकी त्वचा चिकनी और कान्तिमय होती है। ऐसे सुन्दर, सुडौल, हृष्ट-पुष्ट

और कान्तिमय सक्रिय प्राणी को देखकर समझना चाहिये उसे पूरी खूराक मिलती है, जो मिलती है वह पूरी तरह हजम होकर शरीर निर्माण, संरक्षण और संवर्द्धन में लग जाती है।

परन्तु जब हम टेढ़े-मेढ़े, रोगी, दुर्बल, हारे और थके हुए, जीवन से उदासीन और कार्य से विमुख, आलसी और कामचोर प्राणी को देखते हैं तो समझना चाहिये उसे पूरा और तत्त्वपूर्ण भोजन नहीं मिलता, या जो मिलता है वह पूर्णतः शरीर के काम नहीं आता अथवा वह दोषपूर्ण है जिससे दुष्ट प्रवृत्तियों की सृष्टि होती है। आज हमारा देश ऐसे ही भूखे और रोगी लोगों से भर गया है। क्या ऐसे लोगों को लेकर संसार के बलवान राष्ट्रों के साथ उन्नति और उत्थान की दौड़ लगायी जा सकती है? राष्ट्र की रीढ़ जनता है—वही रोगी और दुर्बल हो तो क्या कुछ पढ़े-लिखे बुद्धिजीवी लोगों से हमारे देश में जान आ सकती है? क्या कुछ जवाहर और पटेल, कुछ डालमिया और बिड़ला के प्रदर्शन से भारत बलवान हो जायेगा? हो नहीं सकता।

खाद्य समस्या व्यावहारिक कार्य-क्रम से ही हल होगी—अतएव समुचित और सम्पूर्ण भोजन किसे कहते हैं—यह हमारे ज्ञान की पहली सीढ़ी होनी चाहिये। फिर उस ज्ञान को राष्ट्रीय जीवन में परिणत करना हमारी पहली शिक्षा, पहली राजनीति और पहली समाज सेवा का अङ्ग बनना चाहिये। खेद है कि आज ऊँचे-ऊँचे होटलों में न्यूयार्क की

'पेस्ट्री' और ब्रितानिया बिस्कुट के जायके लेते फिरनेवाले लोग भारत के उजड़े हुए गाँवों के क्षुधानिवारण का राग अलाप रहे हैं। यह उससे कम अफसोस की बात नहीं है कि गाँवों के उद्धार की कसम खानेवाले सेवक और संस्थाएँ भी प्रांतीय रसद विभाग के भरोसे गाँवों की अन्नपूर्णा और स्वावलम्बन की दुहाई दे रही हैं। हिन्दुस्तान की भूख इन तरीकों से हरगिज दूर नहीं हो सकती। जब तक खाद्य समस्या को हम अपने कार्यक्रम का व्यावहारिक अंग और आधार नहीं बनाते केवल बौद्धिक बातों से देश की कोई समस्या हल न होगी।

आज जो लोग देश के हित चिंतन में लगे हुए हैं उन्हें खाद्य-समस्याओं की पूरी जानकारी होनी चाहिए। उन्हें यह भी जानना चाहिये कि अपूर्ण, असंतुलित या दूषित भोजन का शरीर पर क्या प्रभाव होता है और फिर एक-एक की क्षति सारे राष्ट्र की कितनी भारी क्षति बन जाती हैं, क्योंकर वह सारे राष्ट्र को जर्जर और निःसत्व बना देती है।

शिक्षा पद्धति में भोजनशास्त्र का समावेश आवश्यक है— वस्तुतः अन्न और वस्त्र, मनुष्य की दो मूल आवश्यकताओं में शामिल हैं। इन दो में से भी अन्न का पहला स्थान है और यदि इसी के संबंध में हमारा ज्ञान अपूर्ण हो, हमारा कार्य-क्रम अधूरा हो, तो इससे बढ़कर शोचनीय स्थिति और क्या हो सकती है ? इसीलिए आवश्यकता इस बात की है कि हमारी सारी शिक्षा पद्धति में भोजन शास्त्र का व्यापक

और महत्वपूर्ण स्थान होना चाहिये। और यही कारण है कि गांधी जी ने खादी और कृषि को नयी तालीम के दो मूल उद्योग माना। कृषि और भोजन, दो अन्योन्याश्रित एवं पर्य्यायवाची वस्तुएँ हैं। अतः शिक्षकों, विशेषतः नयी तालीम के अध्यापकों, को इसकी विधिवत् एवं व्यावहारिक जानकारी करना और कराना चाहिये।

भारत रोगों के यातनापूर्ण दलदल में जिन्दगी और मौत की साँसें ले रहा है—इनमें से अनेकों के पीछे भोजन की करुण कहानियाँ हैं, अनेकों की सृष्टि हमारी खाद्य अज्ञानता और कुसंस्कारों से हुई है। वेरी-वेरी, रतौंधी, मोतियाबिन्द, प्रसूत ज्वर, रक्ताल्पता—ये कुछ ऐसे रोग हैं जिन्हों ने राष्ट्रीय जीवन के लिए समस्या खड़ी कर दी है, परन्तु भोजन सम्बन्धी मामूली सी जानकारी और सतर्कता के द्वारा देश को इनके चंगुल से बचाया जा सकता है। पेट-भर होने पर भी यदि भोजन संतुलित नहीं है तो वह दूषित और रोग प्रद बन जाता है। अपूर्ण और असंतुलित भोजन से बच्चों की वृद्धि और विकास मारा जाता है। क्या ऐसे बच्चे किसी उन्नतिशील राष्ट्र के कर्णधार हो सकते हैं? जिन माताओं को आवश्यक भोजन नहीं मिलता वे स्वस्थ सन्तानों को कैसे जन्म दे सकती हैं? बच्चों की सुरक्षा और संपोषण के लिए वे स्वयं भी कैसे स्वस्थ और सुखी रह सकती हैं?

आज, ठीक इसी स्थल पर, हमारे अध्यापक वर्ग का

महत्व स्थापित होता है। शिक्षा के मानी यही तो नहीं होते कि कुछ बच्चों को बटोर कर उनके खोपड़ों में कुछ ऐसी किताबी बातें ठूस दी जायें जिनसे उनके जीवन प्रवाह का कोई साक्षात् सम्बन्ध न हो या जिनसे उनकी व्यावहारिक गति-विधि पर कोई असर न पड़े। वह शिक्षा भी क्या जो सीधे जीवन तत्वों से न मिलकर कागजी पन्नों में ही केवल हो ? बालक गणित की कठिनतम सूक्तियों को हल कर रहा हो परंतु दूसरी ओर उसकी नाड़ियाँ और मांसपेशियाँ सूखती जा रही हों तो क्या हम स्वीकार कर सकते हैं कि उसे जीवन की सही शिक्षा मिल रही है ? वस्तुतः जीवन को सही तौर से कायम रखना जीवन की पहली शिक्षा होनी चाहिये, पहली योग्यता होनी चाहिये, वरना क्षीणप्राय गणितज्ञों से यही नहीं कि सबल राष्ट्र नहीं बनेगा बल्कि हम उन्हें गणितज्ञ भी नहीं मानेंगे।

व्यक्ति के, राष्ट्र के, ये आधार भूत सवाल हैं और इन्हें सावधानी पूर्वक हाथ में लेना होगा। परन्तु इस सिलसिले में खास बात समझने की तो यह है कि आहार तत्वों की तालिकाओं से संतुलित भोजन के नुसखे तैयार कर देने से ही हमारे भोजन की समस्या हल नहीं हो जायेगी। भारत बड़ा गरीब देश है, इसलिए भोजन के जो नुसखे हम तैयार करें वे संतुलन की रक्षा करते हुए सस्ते से सस्ते होने चाहियें; सस्ते ही नहीं, सुलभ भी होने चाहियें।

स्वावलम्बी दृष्टि की आवश्यकता— परन्तु सबसे महत्त्व-

पूर्ण बात तो यह है कि हम जो कुछ खाते हैं उसके उत्पादन में हमारा कितना अंश है—इस प्रश्न पर हमें सतर्क रहना होगा। आज हिन्दुस्तान को बहुत सा अन्न विदेशों से महँगे दामों पर मँगाना पड़ रहा है। विदेशों से केन्द्रीय सरकार द्वारा मँगाकर गाँव-गाँव, नगर-नगर, बँटनेवाला अन्न कभी पूरा और स्वस्थकर नहीं हो सकता। जहाजों में, बन्दरगाहों में, गोदामों में सड़ने-गलने और खराब होने के बाद ही वह हमें अपूर्ण मात्रा में प्राप्त होता है। इसके अलावा भारत जैसे विशाल देश के ३०-४० करोड़ प्राणियों को पूरी तरह से रसद पर रखा भी नहीं जा सकता, रसद पहुँचायी भी नहीं जा सकती। हमें अपनी जरूरत का बहुत बड़ा अंश स्वयं मुहैया करना है। यही कारण है कि हमारी नजर स्वावलम्बन पर ही होनी चाहिए। स्वावलम्बन के बिना कोई राष्ट्र आत्म-निर्भर या बलवान् हो ही नहीं सकता।

समतोल भोजन—भारत में प्रति व्यक्ति लगभग २६०० जीवन मान (कैलरी) की प्रतिदिन आवश्यकता है। इस दृष्टि से समतोल भोजन की एक निम्नतालिका हो सकती है—

चावल—(मिल कुटा)	५ छटांक
बाजरा, गेहूँ, जव—(चोकरदार आटा)	२½ ,,
दूध—	४ ,,
दाल—(अरहर ½ छ०, उर्द १ छ०)	१½ ,,
तरकारी—(बैंगन, गवार की फ० ½, भिण्डी ½, सहजन ½, चिचिड़ा ½)	२ ,,

पत्तीदार भाजी-(लाल चौ. १ छ.,
पालक १/२ छ., सहजन की पत्ती १/२ छ.) २ ,,

चर्बी—(मक्खन, घी, तिल का तेल) १ ,,

फल—(आम १/२, केला १/२) १ छटाँक

यह समतोल भोजन की तालिका है। इससे निम्नलिखित तत्व प्राप्त होते हैं, जो शरीर के संरक्षण और संवर्द्धन के लिए पर्याप्त हैं—

नत्रज	७३ ग्राम
चर्बी	७४ ग्राम
कार्बोहाइड्रेट	४०८ ,,
चूना	१·०२ ,,
फासफोरस	१·४७ ,,
लोहा	४४·०० ,,
'अ'	७००० (इकाइयाँ)
'ब १'	४०० ,,
'स'	१७० मिलिग्राम (लगभग)
जीवनमान (कैलरी)	२५६०

ऊपर का भोजन केवल नमूने के तौर पर है। देश और काल तथा परिस्थिति के अनुसार खाद्य-पदार्थों में हेर-फेर हो सकता है। भोजन के बाद ही फौरन लगभग १/२ छटाँक गुड़ खाने से बहुत लाभ होता है। भोजन सुपाच्य बनता है यानी शरीर को शक्ति अधिक मिलती है। गुड़ स्वयं शक्ति प्रदान करता है।

चावल मिल कुटा होने से दूसरे अन्न को नहीं छोड़ना चाहिये। केवल चावल ही लेना है तो वह हाथ कुटा हो और दूध और दाल में वृद्धि कर देनी होगी। उसना चावल अरवा से अधिक संपोषक होता है, मिल कुटा होने पर भी अधिक हानि नहीं करता। चावल बिल्कुल छोड़ देने से अनाज की मात्रा केवल छः छटाँक ही काफी होगी। दूध न मिले तो हर्ज नहीं, मट्ठे और मक्खनियाँ दूध से काम चलाया जा सकता है।

भारतीय खाद्य योजना के दो निर्णायक प्रश्न— यह तो हुई भोजन के शुद्ध संतुलन की दृष्टि। परन्तु हमारे सामने दो प्रमुख प्रश्न हैं। वस्तुतः भारत की खाद्य योजना के ये दो निर्णायक प्रश्न हैं—

(१) भारत की गरीबी

(२) भारत में अन्न की कमी

इन दोनों बातों की अवहेलना करके देश भर के लिए (व्यक्ति या वर्ग विशेष के लिए नहीं) कोई सामान्य आधार नहीं स्थिर किया जा सकता। इन्हीं प्रश्नों को ध्यान में रख कर गांधी जी ने (हरिजन, २५-१-४२) जो मर्यादाएँ स्थिर की थीं उनका उल्लेख करने के पश्चात् ही हम इस समस्या को अधिक विस्तार से समझने की कोशिश करेंगे।

गांधी जी का सुझाव—"हमारी तात्कालिक समस्या भूखों को भोजन और नंगों को वस्त्र देने की है। देश में इस समय

दोनों की कमी है। युद्ध की प्रगति के साथ[1] यह अभाव दिन-प्रति-दिन कटुतर होता जायेगा। वाहर से गल्ले और कपड़े का आयात वन्द है।[2] पैसे वालों पर भले ही असर न हो, पर गरीबों पर असर पड़ ही रहा है। अमीरों को गरीवों के खून पर पलने के सिवा दूसरा कोई रास्ता ही नहीं है। इसलिए जो जितना ही अन्न बचाता है, उतना ही वह उसके उत्पादन के वरावर है। इसलिए जिन्हें गरीवों का ख्याल और आत्मीयता है, उन्हें अपने खर्चों को कम करना चाहिये। इसके अनेक रास्ते हैं, उनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ करूँगा अमीर लोग वहुत ज्यादा खाते हैं और उससे भी ज्यादा वर्वाद करते हैं।

एक समय एक ही आनाज का उपयोग होना चाहिये। वहुत से घरों में चावल, दाल, रोटी, घी, गुड़, तेल, फल और साग सब्जी आम तौर से इस्तेमाल किया जाता है। जिन्हें दूध, पनीर, अण्डा या मांस के रूप में प्राणिज नत्रज मिलता है उन्हें दाल विल्कुल न खाना चाहिये। गरीवों को केवल वानस्पतिक नत्रज मिलता है; अगर अमीर लोग दाल

---

१. आज भारत की स्थिति युद्धकालीन भारत से अच्छी हो सकती है, परन्तु चारों ओर सूखा पीड़ित क्षेत्रों की सीमा घटी नहीं वरन वढ़ती ही जा रही है। आज भी विदेशी अन्न का ही मुख्य सहारा है। अन्तर इतना ही है कि युद्ध जन्य घेरे से हम अभी वाहर हैं पर विदेशों से मुद्रा होने पर ही अन्न मिल सकता है।

२. इस समय यदि आयात वन्द नहीं है तो वह वन्द होने से भी अधिक प्राण घातक है क्योंकि देश का अपार धन इसमें लग रहा है और नतीजा यह है कि जीवन के अन्य कार्य-क्रम मुर्झा कर मरने पर आ रहे हैं।

और तेल छोड़ दें तो गरीबों को जिन्हें प्राणिज नत्रज और चर्बी नहीं मिलती ये अत्यावश्यक पदार्थ सुलभ हो जायेंगे। इसके वाद अनाज द्रव रूप (जैसे पतली खीर वगैरह) में नहीं खाना चाहिये क्योंकि जब यह सूखा या किसी शोरबे में भिगो कर नहीं (यानी रोटी या भात) खाया जाता है तो आधी मात्रा में ही पर्याप्त होता है। इन्हें कच्ची सब्जियों जैसे गाजर, टमाटर, प्याज, सलाद, मूली के साथ खाना अधिक लाभप्रद है। कच्चे सलाद का १ छटांक पाव भर पकी हुई सब्जी के बराबर होता है। रोटी दूध के साथ नहीं खाना चाहिये। एक वक्त का भोजन रोटी और कच्ची सब्जी का हो, दूसरे वक्त पकी हुई सब्जी और दूध या दही के साथ भोजन हो। मीठी तश्तरियाँ बन्द कर देनी चाहिये। उसके बजाय थोड़ा गुड़ या चीनी रोटी या दूध के साथ या खाली ही खाना चाहिये।

ताजे फल अच्छे होते हैं, पर शरीर-यंत्र को व्यवस्थित रखने के लिए थोड़े ही काफी होते हैं। यह महँगी वस्तु है और अमीरों द्वारा लोलुपता पूर्वक हड़प लेने से बेचारे गरीब और रोगी वंचित हो जाते हैं जिन्हें इसकी अमीरों से अधिक जरूरत है।

कोई भी डाक्टर, जिसने खाद्य विज्ञान का अध्ययन किया है, इस बात का प्रमाण देगा कि ऊपर दिये हुए नुस्खे से सुन्दर स्वास्थ्य में मदद मिलेगी।

भोजन के सदुपयोग और सुरक्षा का यह एक रास्ता है, पर इतने ही से स्थिति में बहुत ज्यादा अन्तर न होगा।

अनाज के व्यापारियों को लाभ और मुनाफाखोरी छोड़ देना चाहिये। कम से कम में उन्हें संतोष करना चाहिये। अगर वे गरीबों के लिए अनाज का उपयोग नहीं करते तो लूट लिये जाने के खतरे में पड़ना होगा। उन्हें पड़ोस वालों के संपर्क में रहना चाहिये। राजनैतिक नेताओं को चाहिये इन्हें समय का संदेश दें।

सबसे जरूरी बात यह है कि गाँव वालों को समझाया जाय कि उनके पास जो है उसकी रक्षा करें और पानी की सुविधा के अनुसार ताजी फसलें तैयार करें। उन्हें बताना चाहिये कि केला, आलू, चुकन्दर, रतालू और सूरन तथा कुछ हद तक कद्दू खाद्य-पदार्थ हैं और आसानी से पैदा किये जा सकते हैं। जरूरत पड़ने पर रोटी का स्थान ले सकते हैं।

पैसों के लिए कताई का सरलता पूर्वक लाभ लिया जा सकता है।...काहिल लोग ही भूखे मरते हैं, मरना ही चाहिये। सब्र के साथ काहिलों को भी कार्यशील बनाया जा सकता है।"

समतोल भोजन का उदाहरण दिया गया है। उसे गांधी जी की रूपरेखा में बैठा कर काम लेने से भोजन की समस्या को सुलझाने में बहुत बड़ी मदद मिलेगी। इसमें अमीर और गरीब, सबके लिए रास्ता है।

घातक तरीके— इस समय देश में भोजन की समस्या उत्कट रूप में विद्यमान है। तात्कालिक कठिनाइयों को हल करने के अलावा राष्ट्रीय समृद्धि के लिए भी भोजन के प्रश्न पर व्यक्ति और समाज, दोनों को सचेष्ट और सावधान रहना

चाहिये। अक्सर देखा जाता है कि जिसको जो मिला, जब भी मिला, और जितना भी मिला, पेट में भर लिया जाता है। दूसरी ओर दफ्तर, खेत और कारखाने जानेवालों का कोई समय ही नहीं होता। जितना खाना चाहिए यदि मिला भी तो खाने का मौका नहीं होता। भोजनों के बीच समय और मात्रा का ठीक हिसाब नहीं रहता। ये सारे तरीके व्यक्ति और राष्ट्र, दोनों के लिए घातक हैं। बच्चों के खाने खिलाने का भी कोई ढंग, कोई सीमा नहीं होती। बच्चे, जहाँ नहीं मिलता, भूखों मरते हैं, जहाँ मिलता है गाय-बैल की तरह चरते फिरते हैं। इसलिए सबसे पहले तो भोजन का समय और ढंग निश्चित रखना चाहिये। इसके बिना समतोल भोजन की मर्यादा कायम ही नहीं हो सकती।

भोजन और शिक्षण शालाएँ—भोजन के समय का निश्चित ढंग होने से स्वास्थ्य के लिए हितकर तो है ही, मात्रा भी निश्चित हो जायेगी,—जो होगी उसका पूरा-पूरा लाभ मिलेगा; शरीर की शक्ति बढ़ेगी और सामूहिक रूप से राष्ट्र का हित होगा—लोग क्रियाशील होंगे, उत्पादन बढ़ेगा। इस स्थान पर माँ-बाप के समान ही या बल्कि उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान अध्यापकों का है। इसलिए आवश्यक है कि शाला में जानेवाले शिशुओं की भोजन-व्यवस्था, यथा संभव, शाला से ही सम्बद्ध हो। भोजन की व्यवस्था ही नहीं, उसके उत्पादन और तैयारी में भी बालकों की प्रमुख रूप से जिम्मेदारी होनी चाहिये। शाला में स्थान, साधन और परिस्थिति के अनुसार

ऐसे खाद्य-पदार्थों के उत्पादन की योजना बनायी जाये जो कम से कम में अधिक से अधिक और यथा सम्भव, पर्याप्त हो सके। शाला की भोजन-सामग्री में उनका उपयोग होना चाहिये। इस प्रकार कृषि और भोजन की व्यापक प्रक्रियाओं द्वारा बालकों को श्रेष्ठतम रीति से शिक्षा दी जा सकेगी और ये लोग सच्चे नागरिक बन सकेंगे जिन पर एक सबल राष्ट्र का आधार कायम हो सकता है। केवल तात्कालिक दृष्टि से भी देश की खाद्य-समस्या के समाधान में इस प्रकार बहुत बड़ी मदद मिलेगी; दूसरों को इस दिशा में क्रियाशील होने के लिए प्रेरणा प्राप्त होगी।

● ● ●

शिशु और पोषण : ८ :

शिशु और बच्चे—भारत में शिशु और बच्चों की समस्या सबसे टेढ़ी है। दूध का भयानक अभाव है; जो होता है वह भी पैसों के लिए घी बना दिया जाता है। बच्चों को समय के पहले ही अनाज पर ढकेल दिया जाता है; गरीबी में दूसरा चारा भी नहीं दीखता। इसलिए इस प्रश्न को गम्भीरता पूर्वक हाथ में लेना है। मजदूरी करनेवाली माताएँ बच्चों को अफीम देकर सुला देती हैं, कुछ तो इसलिए कि भूखे बच्चे रोयेंगे; इसलिए उन्हें बेहोश रखना ही सुविधाजनक प्रतीत होता है। नतीजा, दोनों हालत में यही होता है कि बच्चे आवश्यक पोषण के अभाव में रोग और मृत्यु के शिकार हो जाते हैं, उनकी शरीर-रचना नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। बेचारी ये गरीब स्त्रियाँ स्वयं भी भूखों रहती हैं, बच्चों के लिए इनके स्तन में दूध भी नहीं होता।

माताओं को अतिरिक्त भोजन—इसलिए, सबसे पहले, शिशु की रक्षा और विकास के लिए, आवश्यक है कि माँ के भोजन की सम्पूर्ण व्यवस्था की जाये। वस्तुतः गर्भवती और दूध पिलानेवाली माँ को अतिरिक्त पोषण की जरूरत है जिसका हिसाब नीचे दिया जाता है—

इन औरतों को अंकुरित अन्नों का विशेष रूप से सहारा लेना चाहिये। दूध के बजाय मथे हुए दूध से भी काम लिया जा सकता है। बिल्कुल न मिलने से तो कुछ अच्छा ही होगा। मट्ठा भी अच्छी चीज है। जो तत्व है वह तो है ही, पाचक और रक्तशोधक होने से अन्य खायी हुई चीजों के गुण को बढ़ायेगा। खाद्यों की सूची में कई अत्यन्त सस्ती और दुग्ध-वर्धक चीजें हैं, उन्हें लें। गाय के दूध के अभाव में बकरी पाल लेने की कोशिश करनी चाहिए। बकरी का दूध "जीवन मान" की दृष्टि से गाय के ही बराबर गुणकारी और सुपाच्य और भैंस के दूध के दोषों से मुक्त है। इसकी सेवा-सुश्रूषा और खर्च बर्दाश्त करना बहुत भारी न होगा। बकरी अधिकतर पत्तियों पर ही रहती है। कड़ुवी और काँटेदार झाड़ियों में लम्बी रस्सी से बाँध कर चरायी जा सकती है।

शिशु को माँ के दूध की आवश्यक मात्रा के अभाव में गाय या बकरी का दुध शुद्ध और संशोधित जल के साथ मिलाकर देना चाहिये क्योंकि सभी दूधों में माँ के दूध से अधिक नत्रज होता है और बच्चों के पाचन के प्रतिकूल पड़ता है। पानी मिलने से नत्रज की मात्रा पाचन के अनुसार कम हो जाती है। ताजे शिशु के दूध में $\frac{1}{2}$ दूध और $\frac{1}{2}$ पानी और फिर धीरे-धीरे पानी की मात्रा घटाते-घटाते $\frac{1}{4}$ कर देनी चाहिये। चूंकि पानी मिलाने में दूध की शकर कम हो जाती हैं इसलिए शकर मिला देना चाहिये। परन्तु चीनी देशी; साफ शकर, होनी चाहिये—मिल की दानेदार चीनी नहीं

क्योंकि यह शरीर से चूने का अपहरण कर लेती है। इस तरह दिनभर में तीन-चार वार और वड़े शिशु को ५-६ वार पिलाने की जरूरत है। दूध उवाला हुआ हो, दूव का वर्तन भी गरम पानी से खूव साफ किया हो।

दूसरे महीने की अवस्था से थोड़ा भोजन तत्व 'स' (विटामिन 'सी') भी शुरू कर देना चाहिये यानी संतरा, आम, टमाटर या पपीते का रस दो-तीन चम्मच देना चाहिये। जिनको सुलभ हो और पसंद हो वे काड मछली का १–२ वूंद तेल भी दूध में मिला सकते हैं। वड़े वच्चे को १ चम्मच तक दिया जा सकता है। वच्चों को घूप मिलने से शरीर में भोजन तत्व 'द' (विटामिन 'डी') वनता है, इसलिए ऋतु और स्वास्थ्य का ख्याल रखते हुए घूप और ताजी हवा का खुला लाभ करना स्वाथ्यप्रद और शरीरवर्धक है।

लोहे से रक्त वनता है, जो दूध में पर्याप्त रूप से नहीं मिल पाता। इसलिए दूसरे-तीसरे महीने से किसी न किसी रूप में लोहा देना जरूरी है वरना वच्चा रक्ताल्पता (अनेमिया) का शिकार हो जायेगा। डिव्वे या वोतलों के दूव से ताजा दूध अच्छा होता है। डिव्वे खुल जाने पर वहुत जल्द खराव हो जाते हैं। यों भी उनका 'स' उत्पादन क्रिया की कड़ी आँच से नष्ट हो चुका होता है इसलिए यदि देना ही हो तो संतरे और टमाटर का रस देना ठीक है। आज के वच्चे वचपन से ही कमजोर होते हैं और छोटी अवस्था में ही चश्मे लगाने लगते हैं—इसका एक कारण यह होता है कि

कृत्रिम दूधों में भोजन-तत्व 'अ' (विटामिन 'ए') नहीं रहता। इसलिए 'अ' मिलना चाहिए, चाहे जिस रूप में हो। 'अ' की कमी से आदमी बिल्कुल अंधा हो जाता है।

बच्चों को ठोस भोजन छठे महीने के बाद शुरू करना चाहिये। १०वें महीने से केवल गाय के दूध और भोजन पर भी बच्चा रह सकता है। बच्चों के भोजन में गेहूँ या बाजरे की दलिया, मूंग के दाल का पानी, उबाली हुई सब्जियों का रस, रोटी, मक्खन या घी और थोड़ा नमक होना चाहिए। १ वर्ष के बाद अनाज और फलों का भर पेट भोजन दिया जा सकता है परन्तु दूध का प्रबन्ध होना ही चाहिए। नमकीन दलिया में साग-सब्जी का मिश्रण बड़ा लाभप्रद होगा।

• • •

भोजन और जनसंख्या : ९ :

जनसंख्या—शोर है कि देश में अन्न का अभाव है और जनसंख्या वेहिसाव वढ़ती जा रही है। इसलिए पढ़े-लिखे लोग और सरकारी वर्ग मिलकर कृत्रिम मैथुन और गर्भपात आदि के द्वारा जनन-निग्रह वनाम परिवार नियोजन के लिए जमीन को सिर पर उठा रहे हैं। प्राकृतिक मार्ग से लोग विरत होते जा रहे हैं, नैतिक अराजकता का वोलवाला है। परन्तु मजा तो यह है कि इससे समस्या में रत्ती भर भी सुधार नहीं हो रहा है। 'ज्यॉगरफी आव् हंगर' के विद्वान लेखक ने विश्व की खेतिहर भूमि और जनसंख्या का निम्न-लिखित रूप से तुलनात्मक अध्ययन किया है—

"अकाल एक तरह के कुदरती कानून का नतीजा है, इस कथन का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। इस सम्वन्ध में कुछ वुनियादी आँकड़ों के विश्लेषण से मालूम होगा कि यह कल्पना कितनी कृत्रिम है। धरती की सतह का ७१ प्रतिशत भाग समुद्र है और वाकी २९% हमारी पृथ्वी का ठोस हिस्सा है। इस पृथ्वी का क्षेत्रफल लगभग ५ करोड़ ६० लाख वर्ग मील है। इसका ३०% भाग जंगल है, २०% भाग में घासवाले मैदान हैं, १८% भाग पहाड़ी प्रदेश है, और ३२% भाग उष्ण कटिवन्ध या ध्रुव वृत्त वाला रेगिस्तान

है। अमेरिका के कृषि-विभाग के विशेषज्ञ रॉवर्ट सॉल्टर और होमर शान्ट्ज के कथनानुसार केवल २ करोड़ ५० लाख वर्ग मील (पृथ्वी का आधा ठोस भाग) जमीन पर ही खेती के मौजूदा तरीकों से खेती की जा सकती है। रेगिस्तान और पहाड़ी प्रदेश खेती के योग्य नहीं माने जाते, यद्यपि हाल में कृषि-विज्ञान को ऐसे भागों में खेती करने में अच्छी सफलता मिली है। यह सीमित हिसाव भी मनुष्य जाति को खेती के लिए कोई १६ अरब एकड़ जमीन देता है; दूसरे शब्दों में दुनिया की मौजूदा आवादी के हिसाव से हर एक आदमी को ८ एकड़ जमीन खेती के लिए मिलती है। खेती और पोषण के विषय में प्रमाण माने जानेवाले विशेषज्ञों ने, पोषण के आधुनिक ज्ञान के प्रकाश में, खेतीवाले भाग और खूराक की पैदावार के परस्पर सम्वन्ध का अध्ययन करते हुए यह अन्दाज किया है कि प्रति मनुष्य लगभग २ एकड़ जमीन युक्ताहार के अनिवार्य पोषक तत्व मुहैया कर सकती है। इस अनुपात से खेती की जाय तो दुनिया की खेती लायक जमीन का एक चौथाई भाग उपयोग में आयेगा; उसी से दुनिया की सारी आवादी को पूरी खूराक मिल सकेगी। अभी तक पृथ्वी का जोता जानेवाला भाग २ अरव एकड़ की हद तक यानी धरती की कुल खेती लायक जमीन के $\frac{1}{8}$ तक भी नहीं पहुँचा है। इससे जाहिर है कि भूख और अकाल किसी कुदरती कानून के नतीजे नहीं हैं।" ('ज्यॉगरफी आव् हंगर', पृष्ठ २१-२२, हरिजन सेवक ३१-५-५२ से उद्धृत)

वस्तुस्थिति यह है कि एक शक्तिशाली वर्ग जनता की नजर के सामने जनसंख्या के काले बादल खड़ा करके सत्य को उसकी आँखों से छिपा रखने पर तुला हुआ है क्योंकि इसी में उसका स्वार्थ निहित है ।[1] अतः इस रहस्य का भण्डा फोड़ किये बिना भारत में अन्नाभाव की समस्या को हम न तो समझ सकेंगे और न उसे हल करने के लिए किसी सही और सम्मिलित चेष्टा में लोग अपनी व्यक्तिगत शक्ति और साधन का योग दे सकेंगे ।

जनसंख्या बढ़ी है, हम इससे इनकार नहीं करते, परंतु 'जन-वृद्धि' एक शुद्ध सापेक्ष (रिलेटिव) तथ्य है । जन-वृद्धि के साथ यदि साधनों की कमी हो तो उसे जन-वृद्धि कहेंगे । यदि जन-वृद्धि के होते हुए भी भोजन के साधन पर्याप्त हों तो फिर जन-वृद्धि का महत्व ही क्या रह जाता है ? घबराहट क्यों हो ? भारत में जितनी जमीन जोती-बोयी जाती है उसकी कई गुना जमीन बेकार परती पड़ी है, जो जोती-बोयी भी जाती है तो अपूर्ण और अवैज्ञानिक ढंग से, जिसके कारण पूरी पैदावार नहीं होती ।

जनन निग्रह नहीं, उत्पादन बढ़ाने की जरूरत—इतना ही नहीं । प्रति बीघा या प्रति एकड़ पैदावार की औसत भारत में दुनिया के सभी देशों से कम है । भारत की जल-

---

1. "It is······a point of view······inspired by political or economic interest······"—Gouse De Castro, Geography of Hunger, P. 140

वायु और मिट्टी अधिकाधिक उपज के लिए परम उपयुक्त है, इसलिए थोड़ी सी चेष्टा से केवल मौजूदा जमीन में ही पैदावार कई गुना बढ़ायी जा सकती है। पैदावार बढ़ाने में सरकार और समाज की बहुत बड़ी जिम्मेदारी होती है, परन्तु व्यक्तियों की जिम्मेदारी उससे कम नहीं होती। अतः आवश्यकता इस बात की है कि पैदावार के सम्बन्ध में प्रत्येक आदमी व्यक्तिगत रूप से सही दृष्टि और सही तरीकों को अपनाये और फिर सब मिलकर ऐसी सामूहिक चेष्टा में लगें कि भारत की कुल पैदावार बढ़ जाये। व्यक्तिगत चेष्टाओं के समुच्चय बिना सामूहिक सुख-समृद्धि की सच्ची स्थापना हो ही नहीं सकती। केवल सरकारी कानूनों से विश्व का विकास नहीं हो सकता।

इसलिए स्वाभाविक प्रश्न यही होता है कि कृषि योग्य जमीन को बढ़ाया जाये या गर्भपात शुरू किया जाये ? "यह तो ठीक उसी तरह है जैसे खाट छोटी होने पर लम्बे आदमी के पाँव काट देने की सलाह दी जाये" (प्रो० एस० एल० डोशी,—"क्या जनन निग्रह भारतीय दरिद्रता का समाधान है ?"—अमृत बजार पत्रिका, ३–६–५०)। निस्संदेह, गर्भपात और भ्रूण-हत्या के बजाय उपज और उपजाऊ जमीन को बढ़ाना ही सही दिमाग का सबूत होगा।

हमने शुरू में ही दिखाया है कि केवल वनस्पति घी की मिलों को चालू रखने के लिए लाखों एकड़ अन्न योग्य जमीन में मूँगफली पैदा की जाती है और लाखों परिवार के अन्न

का साधन छिन गया है। उसी प्रकार सफेद चीनी और जूट की मिलों को चालू रखने के लिए गन्ने और जूट की खेती में लाखों एकड़ अन्न योग्य जमीन को फँसा दिया गया है। परिणामतः साधन सम्पन्न उद्योगपति और उनसे प्रभावित उद्योगवादी वर्ग जनवृद्धि का शोर मचाने लगा है ताकि जनता का ध्यान भी अपने अपहृत जीवन साधन की ओर न जाने पाये।[1]

जनसंख्या के तुलनात्मक आँकड़े – अब जरा प्रश्न की गहराई में उतरिये। भारत में जनवृद्धि हुई है, दूसरे देशों में भी जनवृद्धि हुई है, परन्तु अन्य देशों की तुलना में भारत की जनस्थिति क्या है इसका गौर से अध्ययन करने की आवश्यकता है। ऐसे उदाहरणों से साफ हो जायगा कि भारत में जनवृद्धि की असलियत क्या है ?

---

१. अमृत बाजार पत्रिका में १३–६–५० को पी० टी० आई० का एक समाचार छपा है – "दिल्ली की आबादी जनवरी और मई '५० के बीच ४१२००० घट गयी है क्योंकि रसद विभाग ने जाली कार्डों को रद्द कर दिया है।" ऐसे ही जाली प्रमाणों पर लोग जन-वृद्धि का अस्तित्व कायम करना चाहते हैं। दिल्ली ही नहीं, अहमदाबाद और अन्य स्थानों पर भी ऐसा ही हुआ है।

वर्ष	[1]जनसंख्या, प्रति वर्ग मील			१८७१ के आधार पर एक तुलनात्मक अध्ययन		
	भारत	फ्रांस	इङ्गलैण्ड	भारत	फ्रांस	इङ्गलैण्ड और वेल्स
१८७१	२१५	१७४	३८९	१००	१००	१००
१८८१	२२७	१८२	४४५	१०५·५	१०४·६	११४·४
१८९१	२२९	१८५	४९७	१०६·५	१०६·३	१२८
१९०१	२१०	१८८	५५८	९७·६	१०८	१४३·४
१९११	२२३	१८९	६१८	१०३·६	१०८·६	१५८·८
१९२१	२२६	१८४	६४९	१०५·१	१०५·७	१६६·८

	इङ्गलैण्ड	फ्रांस	भारत
पिछली अर्धशताब्दी की वृद्धि	६६·८	५·७	५·१
प्रति दस वर्ष की औसत वृद्धि, प्रतिशत	१३·२	१·१५	१·०

नोट :—साधारणतः १०% प्रतिशत वृद्धि होनी चाहिये।

इससे स्पष्ट है कि भारत में जन-वृद्धि की कोई समस्या नहीं है।

---

१. राजस्व और हमारी दरिद्रता (अंग्रेजी, पृष्ठ १०४ से उद्धृत)।

● एक दूसरा आँकड़ा देखिये—

"भारतीय जनवृद्धि की मन्द प्रगति"[1]

(१८८१ से १९३१ ई० तक)

संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका)	१८६.०[2]
जापान	७४.१
ब्रिटेन	५५.१
इटली	४०.८
स्विटज़रलैण्ड	४३.५
जर्मनी	४२.२
भारत	३६.०
स्पेन	३०.८
फ्रांस	११.३

दूसरा पहलू— इस प्रश्न पर एक दूसरे पहलू से भी विचार कीजिये। मद्रास सरकार के स्वास्थ्य संचालक डा० ऑक्रॉयड लिखते हैं—"...... मैं जन्म-निरोध का नाम भी नहीं लेना चाहता क्योंकि भारत में वह सर्वथा असंभव है। परन्तु जनता को यदि स्वस्थ जीवन के तरीकों को समझाया जाये तो उसका असर अवश्य होगा। मद्रास शहर के एक भाग में इसका ऐसा ही नतीजा हुआ। मैं जब मद्रास शहर (१९२४–२५ ई०) की जनसंख्या का निरीक्षण कर रहा

---

१. प्रो० एस० एन० दोशी, अमृत बाज़ार ३-९-५०

२. 'पापुलेशन ट्रेन्ड इन इण्डिया'—बी० के० सरकार, प्रो० दोशी द्वारा उद्धृत।

था तो मुझे यह देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि नगर के ब्राह्मण और युरोप निवासियों की जनसंख्या करीब-करीब बराबर निकली। इतना ही नहीं। जैसे-जैसे हम अन्य वर्गों में सामाजिक व्यवस्था के अनुसार नीचे उतरते गये जन-वृद्धि की गति उतनी ही तीव्र मिली। सबसे नीचे पहुँच कर वह ब्राह्मणों की दूनी मिली। इससे मैं इसी नतीजे पर पहुँचा कि यदि स्वास्थ्य की शिक्षा का प्रसार हो तो अधिक जनसंख्या का प्रश्न ही नहीं उठेगा।

दो महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष—हमारे सामने इस तरह दो बातें आयीं—

(१) पहले तो यह कि भारत में जन-वृद्धि की समस्या नहीं है; जन-वृद्धि का हव्वा इसलिए खड़ा किया जाता है कि हम सच्चाई को समझ न सकें और भारत के औद्योगीकरण में बाधक न हों; बल्कि उलटे भारत को जल्द से जल्द औद्योगीकरण के रास्ते पर पहुँचा दें. क्योंकि हमें जन-वृद्धि से डरा कर इससे बचने के दो ही रास्ते बताये जाते हैं—

(अ) जनन निग्रह

(ब) औद्योगीकरण

चूंकि जनन निग्रह का प्रश्न पूरी तरह और फौरन हल नहीं होता, इसलिए ख्वाह-म-ख्वाह औद्योगीकरण का समर्थन करना पड़ेगा।

(२) दूसरी बात यह बनती है कि जन-वृद्धि को संयत

---

१. हमें क्या खाना चाहिये, पृष्ठ ८३ से उद्धृत।

करने के लिए जनता का जीवन स्तर ऊँचा करना होगा। जीवन स्तर ऊँचा होने का एक यह भी मतलब होता है कि लोगों को पेट भरने के लिए पशुवत् परिश्रम न करना पड़े यानी भोजन की समस्या के वास्तविक हल के लिए लोगों को भोजन की ओर से अधिक से अधिक निश्चित बनना होगा।

परन्तु जब हम यह देखते हैं कि इङ्गलैण्ड का जीवन स्तर ऊँचा होते हुए भी वहाँ आबादी बढ़ रही है तो हमारा ध्यान एक और ही बात पर जाता है: वह यह कि जन-वृद्धि का मूल कारण औद्योगीकरण ही है। ऊपर डाक्टर ऑक-रॉयड ने स्पष्ट तौर से साबित किया है कि जन-वृद्धि में स्वास्थ्य और सफाई के प्रभाव का बहुत बड़ा हाथ है। औद्योगीकरण का मतलब शहरी सभ्यता है और शहरी सभ्यता अस्वस्थकर वातावरण की जननी है (देखिये जाथार और बेरी का 'इण्डियन एकॉनॉमिक्स', जिल्द १)। औद्योगिक केन्द्रों में ठसाठस भरमार के कारण लोग चूहों की तरह बच्चे पैदा करते हैं—खेतिहर और औद्योगिक जनता की तुलना से यह बात साफ हो चुकी है। यहाँ सिर्फ इतना ही कहना है कि भोजन की समस्या को हल करने लिए अव्वल तो जन-वृद्धि का प्रश्न नहीं है। जो है वह—

(१) गरीबी

और

(२) औद्योगीकरण

की वृद्धि के कारण है।

भोजन की समस्या को हल करने के लिए सब से पहले इन दोनों कारणों को दूर करना होगा या, कम से कम, रोक थाम करनी होगी।

उत्पादन की विकेन्द्रित वृद्धि आवश्यक है—जीवन स्तर को ऊँचा करना और गरीबी को दूर करना—दोनों के एक ही मानी हैं। इसका मतलब यह है कि उत्पादन को अधिकाधिक बढ़ाया जाये, परन्तु उत्पादन की इस वृद्धि की शर्त यह होनी चाहिये कि बेकारी न बढ़े। पर हम देखते हैं कि औद्योगीकरण की तीव्रता के साथ बेकारी भी तीव्र होती जाती है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि हमारे उत्पादन-क्रम का विस्तार चर्खात्मक विकेन्द्रीकरण के आधार पर ही हो; उत्पादन क्रम का यही एकमात्र रास्ता है जहाँ शत-प्रति-शत रोजी का विधान हो सकता है। मिलें अधिक से अधिक स्थान और अधिक से अधिक धन लेकर कम से कम लोगों को रोजी देती हैं।

केन्द्रित और विकेन्द्रित उद्योग की तुलना—चर्खात्मक उद्योग-व्यवस्था में ठीक इस का उलटा होता है। पिछले पृष्ठों में वनस्पति मिलों की पूँजी और कार्यकर्ताओं की तुलना से हमने देखा है कि २२½ करोड़ की पूँजी से कुल १५००० हजार आदमियों को काम मिला जब कि उतने ही से चर्खात्मक विधान में ९०००० लोगों को काम दिया जा सकता है। उसी प्रकार केवल ४००००००) की पूँजी से चर्खासंघ ने जितने बड़े दायरे में काम किया,

जितने लोगों को काम दिया, उतने में एक मिल भी थोड़े से आदमियों को लेकर कुछ एकड़ जमीन में मुश्किल से काम कर पाती। भारत की मिलों में जितनी पूँजी लगी है उतने से कितने लोगों को रोजी मिली है? और फिर हिसाब लगाइये कि उतने ही से विकेन्द्रित आधार पर कितने बड़े दायरे में कितने लोगों को काम और रोजी दी जा सकती है। इस स्थान पर मिलवाले कहते हैं कि जो लोग इस तरह बेकार होते हैं, उन्हें दूसरे धन्धों में लगाया जा सकता है और इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यों की बहुतायत को ही वे तरक्की मानते हैं। यह भिन्न-भिन्न प्रकार के काम क्या हैं?—खेती के बजाय चाक मिल और सोप फैक्टरी, घानी के बजाय वनस्पति का उत्पादन, लिपस्टिक, और नेल पॉलिश के कारखाने, गुड़ और चीनी के बजाय चीनी मिलों में 'अलकोहल' तैयार करना इत्यादि-इत्यादि। क्या इसी को सच्चा कार्य कहेंगे जिससे जीवन की आवश्यकताएँ दूर होने के बजाय उलटे नयी आवश्यकताएँ और नये रोग पैदा हो जायँ?

जीवन स्तर—इस सम्बन्ध में जीवन स्तर ऊँचा करने का हव्वा खड़ा किया जाता है। पहले तो हम यह पूछते हैं कि उस ऊँचे स्तर का अर्थ ही क्या जहाँ १० के लिए सिनेमा, सिगरेट, रेडियो और नाचघर की व्यवस्था हो और ९० को कुष्ट और क्षय से गल-गल कर कीड़े-मकोड़ों की तरह मरने के सिवा दूसरा रास्ता ही न हो। और फिर, सचमुच, ऊँचा स्तर क्या है? शुद्ध अनाज, शुद्ध दूध, घी, प्राकृतिक जीवन

और प्राकृतिक आनन्द मनोरञ्जन को छोड़कर नकली सामान और नकली जीवन, रोटी के बजाय सिगरेट, कॉन्ट्रासेप्टिव्, लिपस्टिक, और हम्माम साबुन, दुग्धालयों के बजाय मदिरालय, प्रसूति गृहों के बजाय गर्भपातालय—क्या यही ऊँचा स्तर है ?

जनवृद्धि और अधिक उत्पादन का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध, विकेन्द्रित उत्पादन पद्धति की जरूरत—अमृत बाजार पत्रिका (३-९-५०) में प्रो० जोशी और सरदार के० एम० परिणक्कर ने विद्वत्तापूर्वक हर पहलू से, वैज्ञानिक एवं प्रामाणिक रीति से सिद्ध कर दिया है कि यही नहीं कि १९वीं सदी के व्यापक अनुभवों ने मालथस के बहुप्रचारित जन-सिद्धांतों को गलत ठहराये है, बल्कि यह भी कि भारत में न तो जन-वृद्धि की समस्या है, और न भारतीय परिस्थितियाँ ही ऐसी हैं जो हमें जनन-निग्रह की प्रेरणा दें।[1] प्रश्न यह अवश्य है कि उत्पादन बढ़ाया जाये। हम मानते हैं कि उत्पादन को बढ़ाने के लिए हमारे ढंग और साधन युग और परिस्थितियों के अनुसार उत्कृष्ट आकार और प्रकार के होने चाहिएँ, परन्तु इसका यह मतलब हर्गिज नहीं होता कि चर्खे के बजाय हम सूती मिलों का जटिल व्यूह खड़ा कर दें। अधिकतम उत्पादन के लिए हमें अपने औजारों और

---

१. मालथस के सिद्धान्तों और जनन निग्रह की श्री कॉस्ट्रो ने अपने 'ज्यॉगरफ़ी आव् हंगर' में बड़ी ही वैज्ञानिक और विद्वता पूर्ण समीक्षा की है। पाठकों को उस पुस्तक को अवश्य देखना चाहिये।

तौर-तरीकों में अविकलम सुधार अवश्य करना है, परन्तु इसके पीछे जो क्रियात्मक शक्ति है, स्वावलम्बन और स्व-सम्पन्नता की जो सञ्जीवनी शक्ति है, उसकी रक्षा करते हुए। यह कार्य औद्योगिक केन्द्रीकरण से नहीं, चर्खात्मक विकेन्द्रीकरण से ही सम्पन्न होगा। जनसंख्या और भोजन की अन्योन्याश्रित समस्या को इसी तरह और केवल इसी तरह हल किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में अमृत बाजार पत्रिका (१५-६-५३, सम्पादकीय) ने विद्वत्तापूर्वक सर्वाङ्गीण समीक्षा करते हुए लिखा है "हमें यह हर्गिज न भूलना चाहिये कि जन-वृद्धि साधारणतः उन्हीं क्षेत्रों में होती है जो बहुत घने आबाद हैं; जिन क्षेत्रों की आबादी कम है वहाँ जन-वृद्धि का कोई उल्लेखनीय प्रमाण नहीं मिलता।······ हमारे देश में शहरों की आबादी अत्यधिक बढ़ती जा रही है और गाँव वीरान होते जा रहे हैं।········यदि आबादी का समान रूप में बँटवारा हो सके तो रोग को एक बहुत बड़ी हद तक मिटाया जा सकता है।·····और जनसंख्या का समाधान इस प्रकार के समान वितरण, कृषि और ग्रामोद्योगों के समुत्थान से ही सम्भव है·····।"

प्राकृतिक और अप्राकृतिक जीवन—अतएव जन-वृद्धि और जनन-निग्रह के बावेलों को छोड़कर हमें सही तौर से काम में लगने की जरूरत है, सम्मिलित रूप से, सहयोग और सद्भावनापूर्वक। जरा सोचिये कि प्रकृति ने आखिर स्त्री और पुरुष को बनाया ही क्यों और उनके सहयोग का प्राकृतिक

परिणाम भी क्या होता है? परन्तु इन जनन-निरोधकों ने प्राकृतिक कार्य को ही अपकार घोषित कर दिया है। परिवार में हँसते-खेलते हुए वच्चों को देखकर खुश होने के वजाय ये लोग मातम मनाते हैं; मातृत्व के पुण्य पर्व को इन्होंने असामाजिक कृत्य और देश-द्रोह का रूप दे दिया है। कैसा पाप और कैसी धोखादेही है कि काम करके उसके नतीजे की जिम्मेदारी यह नहीं लेना चाहते, ठीक उसी तरह जैसे किसी को मारकर कोई हत्यारा न वनना चाहे।

प्रकृति-द्रोहियों को निःशस्त्र करने का सही उपाय— परन्तु ध्यान में रखने की वात यह है कि इन प्रकृति-द्रोहियों को आप निःशस्त्र नहीं कर सकेंगे जव तक कि आप अनाज, दूध और फल के वजाय लिपस्टिक, मिल की चीनी, वनस्पति घी, नेल-पॉलिश, चाकलेट और आइसक्रीम की माँग करते रहेंगे। इस तरह गैर-जरूरी चीजों को जरूरी वना देने से उसी घातक औद्योगीकरण और परिणामतः गर्भपात और भ्रूण-हत्या की जरूरत रहेगी। हिन्दुस्तान में भले ही जन-वृद्धि की समस्या न हो, जनन-निग्रह की जरूरत पैदा कर दी जायेगी, सरकार से इसके लिए कानून भी वनवा लिया जायेगा।

● ● ●

अन्न या भोजन

खाद्य समस्या कटुतर क्यों है ? — भारत की खाद्य समस्या इसलिए और भी कटु हो गयी है कि सभी अन्न पर टूट पड़े हैं। हमने यही समझ लिया है कि पेट भरने का एक मात्र सहारा अनाजों का है। सभी अनाज पर टूटते हैं जब कि अनाजों से शक्ति (जीवन मान—कैलरी) तो भले ही मिल जाती है, पर शरीर संरक्षक तत्वों की पूर्ति नहीं होती।

हमने आहार तत्वों का अब तक जो अध्ययन किया है, उससे हम समझ चुके हैं कि शरीर के लिए अन्न से अधिक आवश्यक बहुत सी दूसरी चीजें हैं। अन्न के लिए जितनी जमीन, जितना साधन और शक्ति की आवश्यकता पड़ती है दूसरी चीजों के लिए इतनी ज़रूरत नहीं पड़ती। यदि हम इस बात को ध्यान में रखें तो प्रति व्यक्ति जितनी जमीन उपलब्ध है, उतने में ही बहुत कुछ किया जा सकता है। खेतिहर जमीन पर जो दबाव पड़ रहा है वह भी हलका हो जायेगा, अन्न के लिए हाय-हाय भी कम हो जायगी, और हम आसानी से थोड़े में ही बहुत ज्यादा सुख और शक्ति प्राप्त कर सकेंगे।

अन्न के मोह को त्यागने से खाद्य साधनों में वृद्धि— गाँव का एक गरीब आदमी है। उसके पास खेती के लिए

काफ़ी जमीन नहीं है। खेती के लिए न तो सहायक लोग हैं, और न हल-बैल और सिंचाई का साधन प्राप्त है; बीज के लिए पैसे नहीं। एक छोटी सी घास फ़ूस की झोपड़ी में स्त्री-बच्चों को लेकर दीन-दरिद्र की भाँति गुजर करता है और अन्न की मुँहताजी में जानवर की तरह दम तोड़ता हुआ मरता रहता है। फिर भी उसे अच्छा और पूरा अन्न नहीं मिलता। इस बेचारे को यह नहीं मालूम कि यदि पेट भर अन्न मुयस्सर भी हो जाये तो शरीर में बल और मेधा नहीं उत्पन्न होगी जब तक दूध, घी, साग-भाजी, फल और अन्य चीजें न प्राप्त हों। उसे यह नहीं समझाया जाता कि यदि वह अन्न के मोह को कम कर दे तो उसके साधनों में अपने आप वृद्धि हो जायेंगी। अब इन्हीं बातों पर विचार कीजिये—

केला— (१) केला एक बड़ा ही उत्तम लौह प्रधान फल है। कच्चे केले की तरकारी बड़ी पौष्टिक और सुपाच्य तरकारी होती है। केले के फूल में जीवन तत्व 'अ' का प्राचुर्य्य है। पक्का केला भी उसी प्रकार गुणकारी फल है। यह ठोस भोजन के रूप में भी प्रयुक्त होता है, यहाँ तक कि जब केले का पेड़ काट दिया जाता है तो उसके डंठल की भी उत्तम तरकारी बनती है। और यही केला बिना हल-बैल, बिना जमीन और बीज, ही पैदा होता है। झोपड़े के चारों ओर लगा दीजिये। अच्छा सुन्दर बाग तैयार रहेगा। भोजन देता रहेगा। घर की नालियों से ही इसकी सिंचाई हो सकती है।

कद्दू— (२) कद्दू—बहुत अच्छी सब्जी है। भर पेट तरकारी देने के अलावा इसके बीज से उत्तम प्रकार का तेल निकाला जा सकता है और यह कद्दू होता कहाँ है ? झोपड़े के ऊपर बेचारा फैला रहता है, फल देता रहता है। झोपड़ा न हो, घर हो तो भी थोड़े से झाड़ झंखार पर फैलाया जा सकता है। दस-पाँच पेड़ में १०–५ घड़े पानी बहुत होते हैं। यदि ठीक तरह से देख-भाल की जाये तो जाड़ा, गर्मी, वर्षा—१२ महीने हमें भरा-पूरा रख सकता है।

बहुत से साग और फल हैं जो बहुत आसानी से, बहुत थोड़ी जगह में, पैदा हो सकते हैं, यहाँ तक कि शहरों में गमलों में पैदा किये जा सकते हैं। अक्सर शहरों में भी इतनी जमीन मिल जाती है कि साग और सब्जी आसानी से बिना किसी परिश्रम के उत्पन्न हो जाये।

गाँवों में जिन्हें जमीन उपलब्ध है, वे अनाज ही पैदा करें, ऐसी बात नहीं। कन्द, मूल, फल में कम जमीन, कम साधन और अधिक संपोषण और संरक्षण प्राप्त होता है। शर्त तो यह है कि हम कुछ करना चाहें, वरना कुछ होगा नहीं।

भोजन की समस्या को अन्दोलन रूप से चलाने की जरूरत है— गाँधी जी ने भोजन के प्रश्न पर बहुत कुछ लिखा है, पूर्ण वैज्ञानिक, आर्थिक और राजनीतिक ढंग से प्रत्येक पहलू पर सुझाव दिया है। उनके लेखों का संकलन "खूराक की कमी और खेती" के नाम से नवजीवन कार्यालय, अहमदाबाद, से प्रकाशित हो चुका है। 'हमें क्या खाना

चाहिये—यह पुस्तक सर्व सेवा संघ प्रकाशन विभाग, राजघाट, काशी, से प्राप्त हो सकती है। इसी प्रकार और भी अपार साहित्य भरा पड़ा है। हमें उनसे दिशा प्राप्त करनी चाहिये, जनता को इस ओर जागृत और सचेष्ट करना चाहिये ताकि लोग अपना दुख दूर करने के लिए अपने पैरों पर खड़े हों। सरकार की ओर मुंह उठाये पड़े रहने से बात बनेगी नहीं, बिगड़ती जायेगी। सरकार अकेले कुछ कर भी नहीं सकती। जनता को स्वावलम्वी बनना चाहिये। इसी में हित है। यदि हम सरकार के भरोसे पड़े रहेंगे तो सरकार को पूंजीपतियों और विदेशियों के दरवाजे पड़ा रहना पड़ेगा और देश आजाद होकर भी गुलाम बना रहेगा। आज जो सचमुच देश को सुखी और सम्पन्न देखना चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि भोजन के प्रश्न पर आन्दोलन रूप से कार्य प्रारम्भ करें, जनता को योजना-पूर्वक अपना प्रश्न स्वयं हल करने के लिए तैयार करें। सच तो यह है कि जो जनता की रोटी का प्रश्न हल करेगा, जनता उसी की होगी, और इसीलिए आज **भारत की सच्ची राजनीति भी भोजन की राजनीति है।**

अन्य उपाय—(३) भोजन की समस्या को हल करने के लिए अन्य आवश्यक बातें भी हैं, जैसे सहकारिता, सिंचाई, ग्रामोद्योग, वस्त्र स्वावलम्वन आदि। इन सारी बातों का रचनात्मक ढंग से अध्ययन करके स्वावलम्वी रास्ते निर्धारित करने की जरूरत है। हम चाहें तो बहुत कुछ कर सकते हैं, बशर्ते कि मिल-जुल कर काम करने पर तुले हों। आज देश

भर में पंचायतें काम कर रही हैं; इनका बहुत सा समय लड़ने-झगड़ने में जाता है। इन्हें जीवन के मूल प्रश्नों पर झगड़ा छोड़ देना चाहिये। लोगों को अधिकारों के लिए लड़ना छोड़कर तथ्य को पकड़ना चाहिये—कुछ कम या कुछ ज्यादा, नीचे या ऊँचे, हमें अपने जीवन को सुखी बनाने का मौका मिलता है तो व्यर्थ झगड़े-फसाद में गाड़ी रोक कर बैठे रहना अनर्थ होगा और अंत में अवसर भी हाथ से निकल जायेगा। गांधी जी अंग्रेजों को हिन्दुस्तान से उखाड़ फेंकने पर तुले हुए थे; उनसे बढ़कर असहयोगी संसार में पैदा हुआ ही नहीं, परन्तु भोजन के प्रश्न पर उन्होंने भी अंग्रेजों से सहयोग की सलाह दी थी। यही दृष्टि हमारी होनी चाहिये।

पंचायतों को समर्थ बनाने से सहकारिता को बल मिलेगा, भोजन की अन्य समस्याओं को हल करने में मदद मिलेगी, सिंचाई का काम आसान बनाया जा सकेगा, पशुओं के चरागाह की समस्या को हल किया जा सकेगा।

दूध-दही की दृष्टि से पशुओं का प्रश्न कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। आज गाँव के जानवरों को कहीं चरने का ठिकाना नहीं रह गया है। गाय-बैल ही नहीं रहेंगे तो हमारी खेती क्या होगी ? दूध-दही कहाँ से मिलेगा ?

आदमी के भोजन के लिए जानवर के भोजन की समस्या को हल करना होगा। जानवरों को हरा चारा मिलना चाहिये—इस सम्बन्ध में हमें योजना और सतर्कता पूर्वक काम करने की जरूरत है।

०००

जनसंख्या के समान ही भारत को अकाल का देश कहा जाता है। प्रचार यह है कि यह मानसून का देश है,—कभी सूखा पड़ता है, कभी अति वृष्टि से फसलें नष्ट हो जाती हैं।

अकाल और इसके कारण—परन्तु सत्य यह है कि भारत में ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास हुआ है अकालों की गति और भीषणता, दोनों बढ़ती गयी हैं। '४३ का बङ्गाल का अकाल तो दुनिया के सारे इतिहास में अपना कोई नमूना हीं नहीं रखता। इससे साफ हो जाता है कि यदि अकालों का कारण केवल मानसून या अन्य प्राकृतिक दोष होता तो रेल, तार, जहाज, यातायात तथा अन्य सरकारी और गैर-सरकारी साधनों की वृद्धि के साथ इसमें कमी होनी चाहिये थी, परन्तु ऐसा हुआ नहीं—क्योंकि भारत का आर्थिक गठन ही इस प्रकार से किया गया था कि इसे भूखों मरना पड़े। और अब आजाद होकर भी हम लोग आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन के बजाय अनावश्यक वस्तुओं की वृद्धि में लग रहे हैं। विज्ञान का अवैज्ञानिक और प्रकृति का अप्राकृतिक प्रयोग ही हमारा कार्यक्रम बन गया है, और इसीलिए अन्य देशों के समान ही हमारे रोग और हमारी निरीहता बढ़ती जा रही है। इस गलत दृष्टि का परित्याग करना ही प्रत्येक व्यक्ति का जीवन धर्म होना चाहिये वरना समूह, समाज और

राष्ट्र, कोई कभी सुखी हो ही नहीं सकता। समाज और देश के दुखी और दुर्बल होने से व्यक्ति कभी सुख पा ही नहीं सकता।

ग्रामोद्योगों का अभाव और अकाल—भारत को अंग्रेजों ने कच्चे माल का उत्पादक बना दिया; यहाँ के सारे उद्योग-धन्धों को उन्होंने नष्ट कर दिया। नतीजा यह हुआ कि अधिकतर लोग तो कोरे अनाज की खेती पर निर्भर हो गये यानी खेती में किसी तरह फसल खड़ी करके काट देना ही उनका काम रह गया। वास्तव में खेती पूरी ही नहीं होती जब तक उसकी सारी प्रक्रियाएँ पूरी न हों। गेहूँ, तेलहन या कपास की खेती के मानी हैं आटा, तेल और कपड़ा। इन कार्यों के गाँव में न होने से खेती अपूर्ण रह गयी, लोग बेकार होकर भूखों मरने लगे। यह बेकार और क्षुधा पीड़ित समुदाय मिल, शहर, या सरकारी दफ्तरों की नौकरी पर हिलने-डोलने लगा। स्वतंत्र जीविका का कोई जरिया रहा ही नहीं। यहाँ तक कि गाँवों में तेली तक न रह गये, लोग मिलों के तेल के आश्रित हो गये। आटा और धान की भूसी भी मिलों में छुड़ाई जाने लगी। इस तरह एक ओर तो जमीन इतने लोगों को अन्न देने में असमर्थ होने लगी, दूसरी ओर शहर और कारखानों की तेजी-मंदी के साथ लोग डूबते-उतराते रहे। लोग अपना कच्चा माल अंग्रेजों (और आज कल कारखानों) के हवाले करके उनकी मर्जी पर जीते-मरते रहे।

भारत की राजनीतिक शक्ति बढ़ने पर भी इस हालत में सुधार नहीं हुआ क्योंकि इसे तो कारखानों के लिए कच्चे माल का उत्पादक मात्र बना रखा गया। गन्ने, जूट, कपास— इन चीजों के उत्पादन और विकास पर जितना जोर दिया गया, अन्नादि पर नहीं। अव्वल तो जूट और गन्ना, गेहूँ या चावल बन कर पेट नहीं भर सकता था और दूसरे जूट और गन्नेवाले भी तो मिलों के ही क्रीत दास रूप स्थित थे।

ग्रामोद्योगों के अभाव से कृषि पर दबाव—ग्रामोद्योगों को पुनर्जीवित करके खेती के बोझ को दूर कर देने की जरूरत है। ग्रामोद्योगों के बिना अन्न पर जो दबाव पड़ता है, वह कम नहीं हो सकता। किसान को कपड़े के लिए, मिट्टी के तेल के लिए, साबुन के लिए—सभी के लिए अन्न को पैसों के भाव पर बेंच देना पड़ता है। यदि खादी, तेल-घानी, शहद, साबुन तथा अन्य चीजें गाँव में ही ग्रामोद्योग रूप से तैयार हों तो इनसे किसान को आर्थिक बल भी मिलेगा और अन्न पर का दबाव भी कम हो जायेगा।

खाद्य समस्या और सहकारिता—उसी प्रकार यदि किसान को उत्तम प्रकार के बीज आसानी से न मिलें तो अच्छा अन्न पैदा करना किसान के लिए असम्भव हो जायेगा। जब तक अच्छा और काफी अन्न पैदा नहीं होता, खाद्य समस्या हल हो ही नहीं सकती। अतः सिंचाई के लिए, बीज के लिए, सरल और सुगम पंचायती तरीके और महाजनी तथा अन्य क्रय-विक्रय के लिए, सहकारिता को सक्रिय बनाने से ही खाद्य समस्या हल होगी।

खाद्यों की बर्बादी—भारत की खाद्य समस्या के संबंध में खाद्यों की बर्बादी को रोकने की सख्त जरूरत है। बर्बादी कई तरह से हो रही है :—

(१) खाद्यों को इस तरह बनाना-खाना कि उनके गुण नष्ट हो जाते हैं जैसे हरी सब्जी को बहुत भूनना, बघारना या मसाला देना। ऐसे तत्वहीन पदार्थ से पेट भर लेने से भूख भले मिट जाये, शरीर को लाभ नहीं होता। इसका सीधा सा मतलब यह है कि उतने से व्यक्ति वंचित रह गया। ऐसे व्यक्तियों के जोड़ का मतलब है राष्ट्र का एक बहुत बड़ा भाग खाद्यों से वंचित हो गया। साग-सब्जी ही नहीं, चावल को धोकर बहा देना, बार-बार ताजी चीजों के लिए खेत या बाजार जाने के डर से एक बार ही खरीद कर रख लेना और खाते रहना, चाहे सूख कर, सड़ कर, उनका गुण विनष्ट हो चुका हो, अच्छा नहीं। ऐसी जो चीज, जितनी भी खायी जाये, शरीर की आवश्यकताओं की उनसे पूर्ति नहीं होती। यानी उतने खाद्य की समस्या खड़ी हो जाती है।

(२) दावतों में पूरी पकवान में अन्न की बर्बादी, लोगों को ठूस-ठूस कर खिलाना यह सब फौरन रुकना चाहिये।

अगर दावतें देना जरूरी ही हो तो अन्न-निरपेक्ष स्वस्थकर पेय और नाश्तों से काम लिया जाए, और वह भी कम मात्रा में, कम से कम बार। इस प्रकार खानेवालों को जो कुछ मिलेगा संतुलित होगा, और इधर अन्न तथा चिकनाई की आवश्यक बचत भी हो जायेगी। जो लोग शुद्ध घी वगैरह

नहीं इस्तेमाल करते वे अन्नादि का नाश तो करते ही हैं, खानेवालों को भी मुसीबत में डालते हैं क्योंकि ऐसी चीजें सरासर स्वास्थ्य को खराब करनेवाली होती हैं।

(३) अक्सर घरों में देखा जाता है कि खाना जरूरत से ज्यादा बना लिया जाता है या जबरदस्ती परस दिया जाता है और वह आखिरकार फेंक दिया जाता है। यह देश और समाज, दोनों पर आघात है। देश में जब अन्न की समस्या उत्पन्न हो, उस हालत में एक दाना भी खराब करना जुर्म है। बनानेवाले और खिलानेवाले-सबको सावधान होना चाहिए।

(४) बर्बादी का एक भयंकर रूप सरकारी तरीके हैं। गल्ला रेल की गोदामों में, बन्दरगाहों में, गलता और सड़ता रहता है। जब इतनी मेहनत और इतने खतरे के साथ वह प्राप्त किया जाता है तो उसके सञ्चय और सञ्चालन की पूरी-पूरी व्यवस्था होनी चाहिये। वास्तव में गल्ले को तो इस तरह इकट्ठा ही नहीं करना चाहिये। गल्ले की वसूली की जरूरत हो सकती है या बाहर से भी अन्न मँगाया जा सकता है, परन्तु एक बार उसे केन्द्रित गोदामों में इकट्ठा किया जाये और फिर जहाँ से आया था वहीं बँटने के लिये भेजा जाये—हिमाकत का इससे बड़ा नमूना और क्या हो सकता है ?

गल्ला यदि इकट्ठा ही करना है तो उसे जिले या तहसील की गोदामों में ही रखा जाये; पंचायतों की गोदामें सबसे

सुन्दर साधन बन सकती हैं। रेल के डिब्बे और गोदामों में उन्हें सड़ने का मौका ही न रहेगा।

गोदामें जहाँ हों, वैज्ञानिक तरह की हों, जानकार लोगों की देख-रेख में हों; खराब होने के पहले ही चीजों को इस्तेमाल कर लिया जाये। अच्छी वैज्ञानिक ढंग की गोदामों से अन्न का दुरुपयोग रुक जायेगा यानी हमारे खाद्यान्न का अभाव बहुत कुछ स्वतः दूर हो जायेगा।

अंत में, जो खाना चेष्टाओं के बावजूद बच ही जाये, या जो चीज हमारे खाने योग्य न रहे उसे दुधार पशुओं को खिला देना चाहिये ताकि उसका कुछ न कुछ हिस्सा लौट कर दूध के रूप में हमें प्राप्त हो सके।

० ० ०

कृषि और समाज सन्तुलन : १२ :

संतुलित भोजन और संतुलित समाज— भारत और भोजन के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करते समय हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेने की जरूरत है कि संतुलित भोजन के लिए संतुलित कृषि परम आवश्यक तो है ही, संतुलित कृषि पर समाज का संतुलन भी निर्भर करता है।

कृषि के समस्यात्मक पहलू पर विचार करते हुए हमने जोर दिया है कि खेती पंचायतों की सलाह और अनुमति (लाइसेन्स) से ही होनी चाहिये यानी कितनी धरती में कितना गेहूँ, कितना तेलहन, कितनी दाल, कितनी कपास और कितना गन्ना पैदा करना है—उसी हिसाब से गाँव के आधार पर लोगों को पैदावार का आदेश दिया जायेगा।......इस प्रकार गाँव भर की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकेगी......।

यहाँ हम उसी समस्या को समाज संतुलन की दृष्टि से और भी सफाई के साथ समझने की कोशिश करेंगे।

समाज संतुलन का अभाव—एक आदमी को भोजन में जैसे गेहूँ, जौ, चावल, दाल दूध, फल, साग-सब्जी की सम्मिलित आवश्कता होती है उसी प्रकार उसके परिवार और फिर परिवारों के समूह अर्थात् गाँव भर को इन चीजों की सम्मिलित और समन्वित आवश्यकता होती है। जिन्दगी

की इन जरूरी चीजों में से गाँव में जिस चीज की पैदावार न होगी उसे कहीं बाहर से मँगा कर ही कमी पूरी करनी होगी। जिस हद तक यह कमी होगी और जितनी दिक्कत इस कमी को दूर करने में होगी उतनी ही दूर तक, उतना ही अधिक वह गाँव दूसरों का मुँहताज होगा, यानी उतनी ही उसकी स्वतंत्रता में कमी होगी। स्पष्ट रूप से ध्यान में रखने की जरूरत है कि यह केवल राजनीतिक ही नहीं, मौलिक स्वतंत्रता है। इस मौलिक स्वतंत्रता के अभाव का मतलब है सामाजिक संतुलन का अभाव।

मुँहताजी का अर्थ है दासता और केन्द्रीकरण—गौर कीजिये। गाँव की १००० एकड़ जमीन में से, गाँव की खाद्यावश्यकताओं का विचार किये विना ही, केवल पैसों के लिए, ५०० एकड़ या उससे भी अधिक में, गन्ना और मूंग-फली जैसे व्यावसायिक चीजें पैदा की जा रही हैं। नतीजा यह होता है कि अन्न के लिए उस गाँववालों को दूसरों का मुँहताज होना पड़ता है। इस मुँहताजी का स्पष्ट अर्थ है जघन्य दासता और घोर केन्द्रीकरण। गन्ना, मूंगफली, जूट आदि जिनकी कारखानों में ही खपत होती है उनकी पैदावार से हमें मिलों की मर्जी पर जीना-मरना पड़ता है। कुछ उत्साही समाजवादी और समूहवादी, सम्भवतः रूस के हवाले से, कहेंगे कि पंचायती (कम्युनिस्ट) राज में ऐसा नहीं होगा क्योंकि वहां वास्तविक सत्ता जनता के हाथ में ही रहती है। परन्तु यह तो सफेद झूठ है। सोचिये तो सही!

बनारस में मूँगफली पैदा होती है, सूरत में रूई पैदा होती है, बिहार में गन्ना पैदा होता है, बङ्गाल में चावल पैदा होता है, पंजाब में गेहूँ पैदा होता है। और इसी पृथक्कीकरण को विशेषता का रूप देकर उक्त चीजों की उक्त क्षेत्रों में प्रचण्ड पैदावार की जाती है। मान लिया इन सब स्थलों पर इसी एक जनता का राज है। फिर भी एक क्षेत्र को दूसरे स्थल की सुविधा-असुविधा पर हिलना-डोलना पड़ेगा। एक की दिक्कत से दूसरे में दिक्कत पैदा हो जायेगी। इसके अलावा इन सब को सामूहिक और सम्मिलित व्यवस्था के लिए, यहाँ तक कि दैनिक जीवन की छोटी-छोटी बातों के लिए भी, एक अत्यन्त जटिल और मँहगी केन्द्रीय सरकार की जरूरत अनिवार्य हो जायेगी। केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण, दो ध्रुव के समान एक-दूसरे के विरोधी हैं, एक जड़ है, दूसरा चेतन। चेतन (व्यक्ति) को जड़ (केन्द्र) के इशारे पर नाचना पड़ेगा।

संतुलित कृषि के अभाव में समाज का पारस्परिक विच्छेद—एक कदम और आगे बढ़िये। जब गाँव की कृषि संतुलित रीति से नहीं होती, जब उसमें स्वसम्पन्नता का विचार नहीं होता, तो लोगों की नजर स्वभावतः गाँव से हटकर केन्द्र पर, मौलिक आवश्यकताओं से हट कर मिल और पैसों पर अटक रहती है। परिणामतः गाँव का पारस्परिक तार टूट जाता है। गाँव में कपड़ा बुननेवाले जुलाहे को गाँव के दूसरे किसानों से कोई वास्ता नहीं रह जाता। वह कपड़ा बुनकर

कस्बा या शहर के बनिया के हाथ बेंच देता है। गाँव के सुख-दुख, गाँव के रस्म व रिवाज, गाँव वालों के नीति-धर्म से उसे कोई लगाव नहीं रह जाता। उसे अपने पड़ोसी के दर्द का अहसास नहीं होता, आभास भी नहीं होता। इसी-लिये वह गाँव में रह कर गाँव की गाय को काट कर बकरीद की कुर्बानी के नाम से खुश होता है। हिन्दुस्तान में बस कर भी वह पाकिस्तान की हिमायत करता है। हिन्दू-मुसलमान ही नहीं, हिन्दू-हिन्दू भी एक-दूसरे को उसी प्रकार चूसते और सताते हैं क्योंकि उनकी जरूरतों का कोई पारस्परिक सूत्र नहीं रह गया है। और कुल मिलाकर सारे समाज का जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। समाज का सारा संतुलन ही नष्ट हो जाता है। और इसी सूत्र से आज एक राष्ट्र दूसरे का गुलाम बन रहा है, गुलाम बने रहने के लिए बाध्य हो रहा है, बाध्य किया जा रहा है।

संतुलित कृषि बिना विकेन्द्रीकरण असम्भव—इसलिए "क्षेत्रस्थ सम्पन्नता" (रीजनल सेल्फ सफीशियन्सी) के आधार पर जब तक "संतुलित कृषि" (बैलेन्स्ड एग्रीकल्चर) नहीं होती, भारत के भोजन की समस्या तो हल होगी ही नहीं, देश का सामाजिक संतुलन भी नष्ट हो जायगा। ट्रैक्टर और कारखानों को छोड़ कर हल-बैल और चर्खे ले लेने पर भी हम विकेन्द्रित रामराज से बहुत दूर, केन्द्रवाद के घातक दलदल में फँसकर भ्रष्ट हो जायेंगे।[1]

१. किस तरह इस केन्द्रवाद का घातक चक्र हमें हाड़-मांस सहित हड़प रहा है, इसके निम्नलिखित तथ्य से प्रमाण मिल जायगा :—

इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि संतुलित भोजन के लिए संतुलित कृषि और संतुलित कृषि के लिए प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि और चेष्टायें संतुलित होनी चाहिएँ। प्रत्येक व्यक्ति जब तक अपनी आवश्यकताओं को मर्यादित करके उनका संतुलन कायम न करेगा और फिर उनकी पूर्ति के लिए सही और संतुलित ढंग से कोशिश न करेगा, समस्याओं का समाधान होना असम्भव है। अनावश्यक अभाव फिर उसके निराकरण के बहाने सरकारी नियंत्रण (कन्ट्रोल) का विनाशक चक्र जो हमारे सामाजिक तन्तुओं को दीमक के समान एक-एक करके चाटता जा रहा है, उसकी जिम्मेदारी से कोई व्यक्ति इन्कार नहीं कर सकता। मतलब यह कि वर्तमान परिस्थितियों को दूर करके विकेन्द्रित आधार पर सही और स्वयं पूर्ण समाज की स्थापना में प्रत्येक व्यक्ति का अपना स्पष्ट हिस्सा है और सब के जोड़ से ही समाज का नव-निर्माण होगा।

• • •

पंजाब सरकार ने किसानों से गल्ला बटोरकर ९४००० बोरें इकट्ठा किया था। इस गल्ले की वसूली में कितनी नाजायज बातें हुई होंगी, उनका इस प्रसंग में जिक्र करने की जरूरत नहीं है। जरूरत केवल यह जानने की है ९४००० बोरे में से ७८००० बोरे वर्षा के कारण नष्ट हो गये। अब इस गल्ले वसूली, इस सरकार और इस केन्द्रीय व्यवस्था का आप स्वयं मतलब निकालें।

लेखक की अन्य रचनाएँ

नव भारत

पृष्ठ संख्या ४५० **सजिल्द मूल्य ४)**

"समाज के वर्तमान और भावी रूपों पर शर्मा जी ने मनन किया है। गांधीवाद (महात्माजी के विचारों) को उन्होंने जिस प्रकार रखा है, वह उपादेय है।...गांधीवादियों ने इन प्रश्नों पर इतना व्यापक विचार न किया होगा; जो गांधीवादी नहीं हैं, उन्होंने भी इन विचारों को इस रूप में न देखा होगा।"

— डा० सम्पूर्णानन्द

सर्वोदय समाज-रचना—

(१) तात्विक आधार (२) सामाजिक मूल्य (३) समाज सेवा

पृष्ठ संख्या ४०, ५६, ४० **मूल्य ॥), ॥।), ॥)**

"सर्वोदय केवल एक दर्शन और तत्वज्ञान ही नहीं है, उसमें एक समाज विज्ञान है जो वैयक्तिक और सामुदायिक आचरण के मूल संकेतों का निर्देश करता है ...व्यक्तिगत सद्‌गुणों का और शक्तियों का विनियोग जब सामाजिक जीवन में होता है तब व्यक्तिगत व्रतों का रूपान्तर सामाजिक मूल्यों में होता है। शर्मा जी ने अपनी पुस्तक में इसी प्रक्रिया की व्याख्या की है और उसी व्याख्या के प्रकाश में व्रतों का विवेचन किया है।

— दादा धर्माधिकारी

सर्वोदय

पृष्ठ संख्या ९८ **मूल्य ।=)**

भाई रामकृष्ण ने इस पुस्तिका में आज की परिस्थिति में वापू की सर्वोदय विचार धारा का अच्छा विवेचन किया है।

—धीरेन्द्र मजूमदार